वर्ष १ | २ अक्टूबर १९६९ | अङ्क २–३

वार्षिक मूल्य १५.०० | एक अङ्क का मूल्य ८.००

स्वाहा देवा अमृता मादयन्ताम्

## विषय - सूची

# सम्पादकीय

स्वाहा के द्वितीय एवं तृतीय अंकों का समावेश इस 'गांधी-शताब्दी अंक' में किया जा रहा है। यद्यपि पाठकों को यहाँ गांधीजी-सम्बन्धी बहुचर्चित सामग्री नहीं मिलेगी, परन्तु निस्संदेह इसमें उस अखण्ड एवं उदात्त भारतीयता की झलक मिलेगी जिसने गांधी को अमरत्व प्रदान किया है और जिसको सुरक्षित रखना ही उस महात्मा के प्रति सच्ची श्रद्धांजलि है।

## स्वाहा का नामकरण

प्रथम अङ्क को देखकर, इस त्रैमासिक के नाम पर सबसे अधिक आश्चर्य व्यक्त किया गया क्यों कि सर्वसाधारण की भाषा में 'स्वाहा' करने का अर्थ है सत्यानाश करना। वैदिककाल से अब तक यज्ञादि में जो आहुतियाँ देवों के लिए दी जाती हैं उनके साथ 'स्वाहा', और जो पितरों को दी जाती हैं उनके साथ 'स्वधा' शब्द का प्रयोग होता है। इसीलिए पौराणिक रूपकों में 'स्वाहा' तथा 'स्वधा' को अग्निदेव की दो पत्नियाँ माना गया। वस्तुत: इन शब्दों का मूल अर्थ उस 'स्व' में निहित है जो इन दोनों में वर्तमान है। 'स्व' के साथ, दो भिन्न धातुओं के मेल से जो दो शब्द बने उनका अर्थ भिन्न हो गया—'स्वाहा' का अर्थ है 'स्व का सर्वथा त्याग' और 'स्वधा' का अभिप्राय है 'स्व का धारण अथवा पोषण'। पहले को 'आत्म-बलिदान' कह सकते हैं और दूसरे को 'आत्म-संरक्षण'। ऐसा कौन प्राणी होगा जो 'आत्म-संरक्षण' के लिए प्रयत्नशील न हो? अत: 'स्वधा' की भावना, स्व के पोषण की प्रवृत्ति, सभी में स्वाभाविक है; प्रत्येक प्राणी आत्म-संरक्षण के लिए जो भी करता-धरता है वह उसका पितृयज्ञ है—पूर्वजों के प्रजातन्तु को सुरक्षित रखने के लिए सहज प्रयत्न है। यह एक ऐसा यज्ञ है जो परमात्मा से प्रत्येक जीव को जन्म के साथ ही मिल जाता है।

परन्तु इस सहज पितृयज्ञ की दो सीमाएँ हैं—एक को 'दुरित' कह सकते हैं और दूसरे को 'सुवित'। यदि स्वधा की भावना अपने 'स्व' को सीमित करते-करते व्यक्तिगत स्वार्थपरता तथा इंद्रिय-लोलुपता में ही परिणत हो कर रह जाय, तो वह 'आत्म-संरक्षण' न होकर 'दुरित' की प्रवृत्ति कही जायेगी; उसे पितृयज्ञ न कहकर वृत्रयज्ञ कहा जायेगा, क्योंकि वहाँ ५ ज्ञानेन्द्रियों और छठी

बुद्धि में प्रकट होने वाली ज्ञानाग्नि पर 'आवरण' पड़ा हुआ होगा। इसके विपरीत यदि स्वधा-भावना का 'स्व' निरन्तर विस्तार प्राप्त करता जाय— व्यक्ति से परिवार, परिवार से ग्राम, और ग्राम से बढ़ते-बढ़ते देश और विश्व का भी 'स्व' में समावेश होने लगे, तो स्वभावतः आत्म-संरक्षण की भावना धीरे-धीरे आत्म-बलिदान में परिणत होने लगेगी और अन्ततो गत्वा स्वधा का नाम स्वाहा हो जायेगा। परन्तु इसके लिए यह आवश्यक है कि 'स्वधा' के 'स्व' को निरन्तर विस्तार देने के लिये उक्त 'षट्' वस्तुएं 'वृत्र' (अज्ञान) के प्रभाव-क्षेत्र से बाहर 'वरुण' के नैतिक नियन्त्रण में रहें। उक्त 'षट्' जब वरुणमय होता है, तभी उसे 'वषट्' कहते हैं जो साधारण भाषा में 'विवेक' कहलाता है। इसी 'वषट्' का वज्र जब तक उद्यत रहता है, तब तक हमारी स्वधा हमें 'त्येन त्यक्तेन भुँजीथ' का मन्त्र देती रहती है और हम 'त्यागमय भोग' को अपनाते रहते हैं, परन्तु जहाँ 'वषट्' का व 'वृ' में परिणत हो जाता है और उक्त 'षट्' (ज्ञानेन्द्रियों सहित बुद्धि) अज्ञानावृत होकर 'वृत्र-यज्ञ' में रत हो जाते हैं, तब घोर 'दुरित' के प्रतीक वृत्र का साम्राज्य हो जाता है जिसके भेदन के लिये पुनः 'वषट्' रूपी वज्र की आवश्यकता होती है।

यही 'वषट्' या विवेक गांधी, ईसा, महावीर और बुद्ध जैसे ऋषियों की देन है जिन्होंने धर्म का साक्षात्कार कर लिया था और जो दूसरों को भी साक्षात्कार करा सकते थे। यह 'वषट्' भी स्वधा के समान ही मानव के भीतर सहजरूप में विद्यमान होता है और इसका प्रयत्न होता है कि 'आत्म-संरक्षण' की भावना 'आत्म-बलिदान' को लक्ष्य बना कर चले—स्वधा की भावना पितरों की परोप-कारी वृत्ति को ग्रहण करती हुई स्वाहा में परिणत होने का प्रयत्न करे, परन्तु 'वषट्' की आवाज़ को जब हम बार-बार सुनी-अनसुनी करने लगते हैं, तो वह रूठ जाता है और अपनी सहायता बंद कर देता है। इसके परिणाम स्वरूप स्वधा 'कृत्या' में परिणत हो जाती है—आत्म-संरक्षण के नाम पर आत्म-भक्षण का कार्यक्रम चल पड़ता है; घोर स्वार्थपरता, अविचार, अतिचार और अनाचार से युक्त यह दक्ष-यज्ञ विध्वंस के योग्य हो जाता है। अत एव वैदिक प्रार्थना है 'दुरितानि परा सुव' क्योंकि जब तक मानव-जीवन में 'दुरित' का साम्राज्य है, तब तक 'स्वधा' का समस्त कार्य देवशत्रु वृत्र के पोषण में लगता है और हमारी दैवी-संपत्ति दिन-प्रतिदिन क्षीण होती जाती है। अत एव 'स्वधा' के लक्ष्य की प्राप्ति इसी में है कि उसका 'स्व' निरंतर विस्तृत होता हुआ अंततो गत्वा उसमें 'विश्व' को समाविष्ट करले और हमारा 'अहम्' विश्वमानुष में परिणत हो जावे।

तभी मनुष्य वैदिक-दर्शन की उस स्थिति को प्राप्त कर सकता है जिसे 'स्ववंती अभयं स्वस्ति' कहा जाता है। यही 'विश्वजित्' यज्ञ की पूर्णाहुति है, यही मनुष्य-यज्ञ द्वारा पंच-महायज्ञों के समस्त फलों की प्राप्ति है। वैदिक जन 'स्वस्तिमन्तः स्याम' कह कर जिस अभयपद की कामना करते थे, वह यही है। इसी 'स्वाहा' भावना को गांधी ने स्वयं प्राप्त किया और हमें भी प्राप्त कराने का प्रयत्न किया; परन्तु हमने सिद्ध कर दिया कि हम अभी इसके पात्र नहीं हैं।

## सिंधुलिपि-संबंधी खोज

प्रथम अंक के संकेतानुसार, सिंधु-लिपि और सिंधु-संस्कृति-विषयक लेखों का प्रकाशन इस 'त्रैमासिक' की एक विशेषता रहेगी। अतः इस अंक से एक शृंगी-पशु संबंधी लेखमाला का प्रकाशन प्रारम्भ किया जा रहा है। इस अंक में केवल ९९ लेख उनके देवनागरी रूपांतर-सहित प्रकाशित किये जा रहे हैं। साथ ही 'सिंधु-लिपि और एकशृंगी पशु लेखमाला' शीर्षक से इन लेखों की व्याख्या भी क्रमशः चलेगी। यद्यपि एकशृंगी पशु के सभी लेखों का अभिप्राय सम्यक् रीति से तभी सामने आ सकेगा, जब इस प्रकार के सभी लेख (जो लगभग १००० हैं) प्रकाशित हो जायें, फिर भी प्रत्येक अंक में एकशृंगी के विभिन्न पहलुओं पर विचार करते हुये प्रकाशित लेखों का यथासंभव उपयोग किया जायेगा।

## वैदिक-शोध

जैसा कि प्रथम अंक में निवेदन किया गया, सिंधु-लेखों की भाषा वैदिक संस्कृत है। अतः सिंधु-लेखों से प्राप्त तथ्यों की परीक्षा वैदिक-शोध के प्रकाश में आवश्यक हो जाती है। इसीलिए प्रस्तुत अंक में 'उत्तर-दक्षिण की सनातन एकता' शीर्षक लेख में भारत की उस सांस्कृतिक अखंडता को वैदिक प्रमाणों द्वारा सिद्ध किया जा रहा है जिसका उल्लेख सिंधु-मुद्राओं के आधार पर पूर्व अंक में किया गया था। इसमें संदेह नहीं कि इस लेख के निष्कर्ष भी उतने ही चौंकाने वाले प्रतीत होंगे, जितने कि 'सिंधु-मुद्राओं' से प्राप्त तथ्य। परन्तु मुझे विश्वास है कि सत्य के अनुसंधित्सुओं को इस लेख से नीर-क्षीर-विवेक के लिए पर्याप्त सामग्री मिल जायेगी। बहुत-सी शंकायें फिर भी रह जायेंगी, परन्तु उन सभी का निराकरण करने के लिए 'स्वाहा' कृतसंकल्प है और शनैः शनैः उन सभी का समाधान प्रस्तुत किया जायेगा। साथ ही आवश्यकता इस बात की है कि हम भारत की प्रागैतिहासिक संस्कृति के बद्धमूल पूर्वाग्रहों को अंतिम सत्य समझना छोड़ दें।

## प्रतिष्ठान का कार्य

राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान जो शोधकार्य अपने सीमित साधनों द्वारा सम्पादित कर रहा है वह मुख्यतः निम्नलिखित क्षेत्रों में हो रहा है।

### १. वैदिक साहित्य—

वैदिक-साहित्य में जो शोध यहाँ हो रही है वह एक रूप में सिंधु-संस्कृति-विषयक शोध की पूरक है और उसका स्वरूप-निर्देश ऊपर हो चुका है। इस दिशा में, सिंधु-लेखों और वैदिक-ग्रंथों के तुलनात्मक अध्ययन से ऐसा पता चलता है कि उस सुदूर अतीत का वह वैदिक-साहित्य एवं ज्ञान-विज्ञान का एक ऐसा पिटारा है जो न केवल भारतीय दर्शन, धर्म और संस्कृति का मूलस्रोत है अपि तु जिससे विश्व की समस्त प्राचीन संस्कृतियाँ उपकृत हुई हैं तथा आधुनिक वैज्ञानिक युग के लिए भी वह अत्यंत महत्त्व की वस्तु हो सकती है। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद की जिन आश्वलायन एवं शांखायन-संहिताओं का नाम ही सुना जाता था, उनके सम्पादन का भी श्रीगणेश किया है ; परन्तु खेद है कि उसका प्रकाशन-कार्य अभी तक प्रारम्भ नहीं किया जा सका।

### २. तन्त्र-साहित्य—

तन्त्र-साहित्य की ओर भी प्रतिष्ठान का ध्यान गया है और 'आगम-रहस्य' के दोनों भागों को प्रकाशित किया जा चुका है तथा 'सांख्यायनतन्त्र' छपकर लगभग तैय्यार है। 'सिंह-सिद्धान्त-सिंधु' नामक एक अन्य महाग्रन्थ का प्रकाशन भी प्रारम्भ हो गया है और लगभग ५०० पृष्ठों का प्रथम भाग मुद्रित हो चुका है। आज भारतीय तन्त्र-साहित्य की ओर पाश्चात्य देश विशेष रूप से आकर्षित हुये हैं, परन्तु तन्त्र-ज्ञान की वास्तविक कुंजी यदि शीघ्र प्रस्तुत न की जा सकी तो इस क्षेत्र की शोध भी वैसी ही निराशाजनक होगी जैसी कि वैदिक-शोध सिद्ध होती रही है। तन्त्र-पद्धति में प्रचलित बीजाक्षरों के समान सिंधु-लेखों में भी कुछ प्रतीक उपलब्ध हो रहे हैं और दोनों के तुलनात्मक अध्ययन से तन्त्र-शास्त्र की कुछ गुत्थियाँ सुलझाने में भी सहायता मिलने की सम्भावना प्रतीत होती है।

### ३. जैन साहित्य—

हमारा प्रतिष्ठान जैन-साहित्य की दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध है। हमारी बीकानेर और जोधपुर की शाखाओं में हजारों जैन ग्रन्थों की प्रतियाँ उपलब्ध

हैं। इसके अतिरिक्त जैसलमेर के प्रसिद्ध ज्ञानभण्डार के प्रमुख ग्रन्थों की फोटो-प्रतियाँ भी यहाँ संगृहीत की गई हैं। तेरहवीं शताब्दी के हस्तलेख के आधार पर 'सनत्कुमारचक्रिचरितम्' का प्रकाशन हो गया है और नन्दी-सूत्र की प्रभा टीका का मुद्रण हो रहा है एवं निर्वाणलीलावती-कथासारोद्धार का सम्पादन-कार्य चल रहा है।

**४. बौद्ध साहित्य—**

यद्यपि बौद्ध-साहित्य पर अभी तक यहाँ कोई काम नहीं हुआ था; परन्तु अभी हाल में महोपाध्याय विनयसागर ने प्रतिष्ठान में संगृहीत 'आर्यमहाविद्या' नामक ग्रन्थ को पढ़ना प्रारम्भ किया है। चमड़े पर लिखा हुआ यह सचित्र ग्रन्थ अत्यन्त कठिन लिपि में काठमाण्डू में नेपाल-नरेश सूर्य्यमल्ल के राज्यकाल में लिखा गया था। इस तान्त्रिक ग्रन्थ की एक ही प्रति अभी तक उपलब्ध हुई है जिसमें एक पत्र नहीं है। आशा है निकट भविष्य में प्रतिष्ठान इसको संपादित करके प्रकाशित कर सकेगा।

**५. राजस्थानी-साहित्य—**

प्रतिष्ठान से राजस्थानी और डिंगल-साहित्य के अब तक ५२ ग्रन्थ लगभग १३८७२ पृष्ठों में प्रकाशित हो चुके हैं। इन ग्रन्थों में 'मारवाड़ रा परगनां री विगत' नामक गजेटियर का दूसरा भाग प्रकाशित हो चुका है और तीसरा भाग प्रेस में है।

## श्रद्धाञ्जलि

गांधीजी की जन्म-शताब्दी-वर्ष में श्रद्धांजलि-स्वरूप 'स्वाहा' भारत के उस सनातन-संदेश को स्मरण करती है जिसे महात्माजी ने पुनः विश्व के सामने अपने ढंग से प्रस्तुत किया। यह मानव की एकता का संदेश है जिसे सर्व-प्रथम भारत ने संस्कृत-भाषा के माध्यम से प्रस्तुत किया। यह संदेश २८०० ई०पू० से भी पहले भूमध्यसागर के पूर्वी तट पर स्थित सुमेरु में पहुँच चुका था; इसका प्रमाण सिंधु-लिपि में लिखे हुये निम्नलिखित पाँच लेख[१] हैं जो वहाँ प्राचीन नगरों की खुदाई करने पर प्राप्त हुये और जिनका अभिप्राय संक्षेप में निम्नलिखित है—

---

१. मूल लेखों को देखिये प्लेट सं० १ में।

(०) मानव का व्यक्ति ईम् और अन (शक्ति-शक्तिमान्) की संयुक्त इकाई है जो ग्यारह रुद्रों (प्राणों) तथा बारहवीं अम्माम्मा इरा नामक महाशक्ति के सहित 'त्रिदश' कही जाती है।

(१) इसमें पंच-ज्ञाता (५ ज्ञानेंद्रियाँ) हैं जिनके 'वृत्र' (अज्ञानावृत) होने से, मनुष्य पंच मकारों का मार्ग (मदिरा, मैथुन, मांसादि ?) को अपनाता है।

(२) मानव-व्यक्तित्व में एक रुद्रज्ञा जलाष[1] (औषधि) है जो पापों को ऋत द्वारा दूर करती है।

(३) ज्ञान ही तप है न कि भौतिक यज्ञाग्नियों में तपना।

(४) मनुष्य के भीतर सच्चा अग्नि 'मनन' रूप में स्थित है, परन्तु 'पाँच ज्ञानेन्द्रियों सहित बुद्धि' में विभाजित होकर मन 'अनान्न' (भोगासक्त प्राण) के रूप में हो जाता है।

## प्रस्तुत अंक
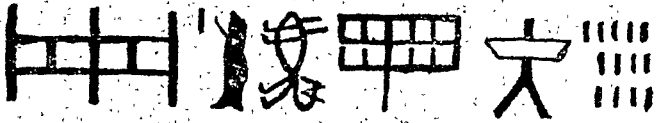
इस अंक में पूर्व अंक के समान ही इस प्रतिष्ठान में संगृहीत अलभ्य हस्त-लेखों में तीन को प्रकाशित किया जा रहा है। इनमें से कवि हेमरत्न प्रणीत 'भावप्रदीपः' (र. सं. १६३८) की दो प्रतियां एकमात्र इसी प्रतिष्ठान में संगृहीत हैं, अतः उन्हीं के आधार पर इस ग्रन्थ को केवल मूल रूप में ही दिया जा रहा है। कवि हेमरत्न की एक राजस्थानी रचना 'गोरा बादल पदमिणी चउपई' इस प्रतिष्ठान से पहिले ही प्रकाशित की जा चुकी है। दूसरा संस्कृत ग्रन्थ 'कातन्त्रविभ्रम' का मूलपाठ परिचय के रूप में दिया जा रहा है। 'राठौड़ां री वंसावली' शीर्षक तीसरे राजस्थानी ग्रन्थ का जो अंश यहां प्रकाशित किया जा रहा है उसके अंतर्गत डिंगल पद्यभाग संभवतः राजस्थानी गद्य की अपेक्षा अधिक प्राचीन तथा महत्त्वपूर्ण प्रतीत होता है।

इन ग्रन्थों के अतिरिक्त श्री सुरजनदास स्वामी का 'वैदिक ऋषि, छन्द व देवता' और आचार्य मुनि जिनविजयजी द्वारा लिखित 'पुरातत्त्व संशोधन का पूर्व इतिहास' (गुजराती से अनूदित) लेख यहां प्रकाशित किये जा रहे हैं। आशा है, यह सब शोध-सामग्री विज्ञ पाठकों के लिये उपयोगी तथा रोचक सिद्ध होगी।

२ अक्टूबर, १६६६

—फतहसिंह

---

१. तुलना करो वैदिक—रुद्र से सम्बन्धित जलाष-भेषज।

# सुमेर से प्राप्त पाँच सिन्धु–वैदिक लेख

(२८०० ई० पू०)

(०) 

अम्माम्मा इरा, रौद्रगण एकादश, ईमअन, त्रिदश

(1) वृत्र-पंचज्ञातृ-ना पंचमकार मग

(2) ऋत्रपापन् रुद्रज्ञा जलाष

(3) ज्ञानन्, न यजत्र तपन

(4) 

मनन अगग्न षण्मन अनान्न
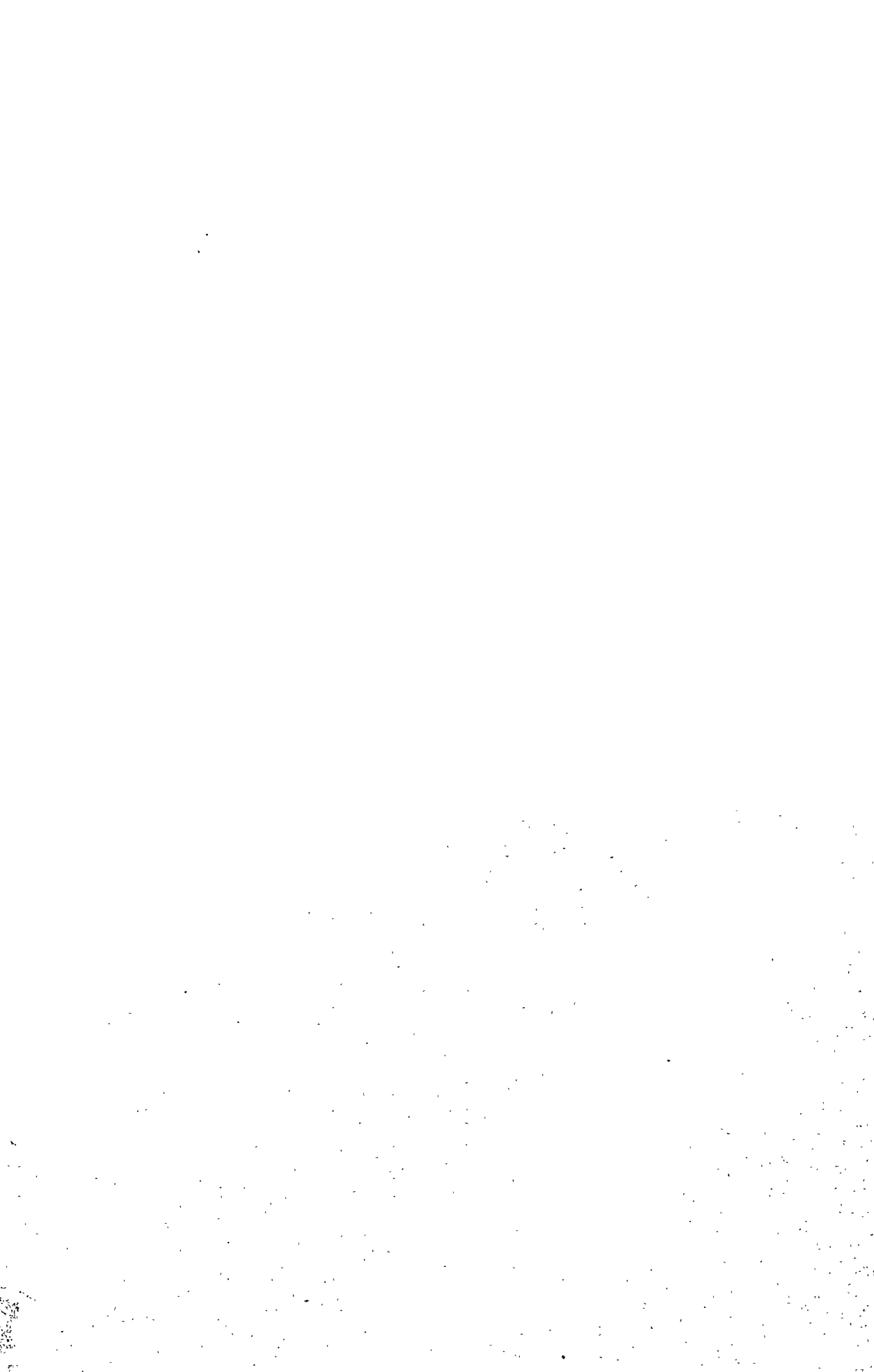
# ऋषि, छन्द व देवता

ले०—सुरजनदास स्वामी

लौकिक साहित्य में उसके अध्ययन व परिज्ञान के लिए प्रतिपादनीय विषय का महत्त्व होने पर भी उसके रचियता तथा जिस छन्द में काव्य की रचना की गई है, उस (छन्द) का विशेष महत्त्व नहीं होता। यद्यपि आलंकारिकों ने वाक्यदोषों का विवेचन करते हुए हतवृत्तता-दोष में रसाननुगुण-वृत्त की गणना कर लौकिक छन्दों को भी प्रतिपाद्य रसरूप विषय की प्रतीति में कारण माना है। जैसे—मन्दाक्रान्ता व पुष्पिताग्रादि छन्द करुणरस व विप्रलम्भश्रृंगार की, पृथिवी, स्रग्धरा आदि छन्द श्रृंगारादि रसों की, शिखरिणी, शार्दूलविक्रीडित आदि वीरादि रसों की तथा दोधकवृत्त हास्यरस की प्रतीति में सहयोगी पड़ता है। तथापि लौकिक साहित्य में प्रतिपाद्य विषय की प्रतीति में छन्दों का उतना महत्त्व नहीं है जितना वैदिक साहित्य में। वैदिक साहित्य में प्रतिपाद्य विषय, उसके निर्माता तथा जिस छन्द में उस विषय का निबन्धन किया गया है, उन तीनों का विषयपरिज्ञान के लिए सर्वाधिक महत्त्व है।

प्रतिपाद्य विषय को ही वेद में देवता शब्द से, वक्ता या निर्माता को ऋषि-शब्द से तथा जिस वर्णादि-बन्ध में उस तत्त्व का छन्दन किया गया है, उसे छन्द-शब्द से व्यवहृत किया गया है। विषय-परिज्ञान में इन तीनों का अत्यधिक महत्त्व होने से ही वैदिकों की यह मान्यता है कि ऋषि, छन्द व देवता के परिज्ञान के विना वेद का अध्यापन तथा यागादि-कार्य का अनुष्ठान सम्भव नहीं। यदि इनके परिज्ञान के विना कोई इन कार्यों को करता है, तो वह स्थाणुत्व को प्राप्त होता है, मृत्यु को प्राप्त होता है और अतिशय पाप का भागी बनता है। जैसा कि आचार्य कात्यायन ने लिखा है :—

"यो ह वा अविदितार्षेयच्छन्दोदैवतब्राह्मणेन मन्त्रेण याजयति वाध्यापयति वा स्थाणुं वर्च्छति गर्तं वा पद्यति प्र वा मीयते पापीयान् भवति।" इति। (का० १।१)

इस कात्यायनवचन से यह सिद्ध है कि ऋषि, छन्द व देवता का ज्ञान प्रत्येक मंत्र में अपेक्षित है। यद्यपि शौनक ने बृहद्देवता में—

वेदितव्यं दैवतं हि मन्त्रे मन्त्रे प्रयत्नतः।
दैवतज्ञो हि मन्त्राणां तदर्थमवगच्छति॥ (बृ० १।२)

न हि कश्चिदविज्ञाय याथातथ्येन देवतम्।
लौक्यानां वैदिकानां वा कर्मणां फलमश्नुते॥ (बृ० १।४)

इन पद्यों के प्रत्येक मंत्र में देवता का ज्ञान मंत्रों के अर्थ के परिज्ञान के लिए तथा लौकिक, वैदिक कर्मों के यथार्थ फल की प्राप्ति के लिए आवश्यक है—यह बतलाया है। इस प्रकार देवताज्ञान की ही आवश्यकता बतलाई है न कि ऋषिज्ञान व छन्दोज्ञान की। तथापि वहाँ देवताओं का ही निरूपण होने से प्रतिमंत्र देवताज्ञान की ही आवश्यकता अभिव्यक्त की गई है। उसका तात्पर्य यह नहीं है कि मंत्रार्थ-परिज्ञान के लिए छन्दोज्ञान व ऋषिज्ञान अपेक्षित नहीं है। वहाँ देवताज्ञान, छन्दोज्ञान व ऋषिज्ञान का भी उपलक्षक है। क्योंकि जैसे देवताज्ञान के विना मंत्रों के सम्यग् अर्थ का ज्ञान नहीं हो सकता, उसी प्रकार छन्दोज्ञान व ऋषिज्ञान के विना भी मन्त्रार्थों का समीचीन ज्ञान सम्भव नहीं।

स्वर्गीय गुरुवर्य पं० मधुसूदनजी महाराज ने 'वेदधर्मव्याख्यान'—पञ्चम भाग में, मन्त्र में ऋषि, छन्द आदि के ज्ञान की भी आवश्यकता निम्न रीति से प्रतिपादित की है। जैसे—महाव्रत-नामक कर्म में माध्यन्दिन सवन में निष्केवल्यशास्त्र पढ़ा जाता है। उसमें पठनीय नानाछन्दों वाले मन्त्रों के अक्षर मिलकर ३६ हजार होते हैं। उन अक्षरों से प्रमित प्राणों की भी उतनी ही संख्या होती है। प्रतिदिन सूर्य से आगत प्राणों की ३६ हजार संख्या १०० वर्षों में होती है। अतः पुरुष-आयु के द्वारा प्राप्त आह्निक प्राण उस शास्त्र के द्वारा बोधित होते हैं। ३६ हजार प्राणों का समुदाय बृहती-सहस्रात्मक (३६ हजार) विश्वामित्र प्राण का बोध इस तरह हो जाता है। विश्वामित्र उस इन्द्र-प्राण का वाचक है जो कि सूर्य से आकर हमारा आत्मा बनाता है। यही इन्द्रप्राण प्राणरूप से सभी चर व अचर में प्रविष्ट है और उनका आत्मा है। इसीलिए 'चित्रं देवानामुदगादनीकम्' इत्यादि मंत्र में 'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च' इस उक्ति के द्वारा इसे चर व अचर का आत्मा बतलाया है। यह सबका हितकारी होने से सभी का मित्र ही है। इसीलिए आत्मरूप इस इन्द्रप्राण को सबका मित्र होने से विश्वामित्र-नाम से व्यवहृत किया गया है। निष्केवल्य शास्त्र में मन्त्रों का विश्वामित्र ऋषि होने से विश्वामित्र ऋषि के द्वारा उस चराचर विश्व के आत्मा विश्वामित्र-पदवाच्य प्राण का बोधक है। अतः मंत्रों में प्राणरूप देवता के परिज्ञानार्थ ऋषिज्ञान आवश्यक है। इसीलिए वहाँ लिखा है :—

"सर्वेषां देवानां प्राणादुत्पत्तेः यादृशप्राणजन्या या देवता यत्र कर्मणि विवक्षिता तत्र

तदार्षेयसंस्कृतैरेव मन्त्रैःसा देवता निर्दिश्यते। प्राणा वा ऋषयः इति श्रुतेस्तद्ऋषिनाम्ना प्राणविशेषस्य विवक्षितत्वात्।" इति।

(वेदधर्मव्याख्याने–५ भागे १८)

वाक्परिच्छेद का नाम छन्द है। अतः छन्दोविशेष से परिच्छिन्न ऋग्रूप के द्वारा जिस देवता की स्तुति की जाती है, उस देवता का उस छंद से परिच्छिन्न महोक्थ ही स्थान होता है। इस महोक्थ स्थान में भी भिन्न-भिन्न छन्दों के द्वारा भिन्न-भिन्न प्रदेशों का तथा विभिन्न परिमाणों का बोध होता है। जैसे - गायत्रीछन्द के द्वारा पृथिवीस्थान का, बृहती के द्वारा विषुवत्प्रदेश का उष्णिक्छन्द के द्वारा दिक्प्रान्तप्रदेशों का तथा जगती के द्वारा द्युस्थान का ग्रहण होता है। अग्न्यादि देवताओं के विभिन्न पृथिवी, अन्तरिक्ष तथा द्युलोक स्थान हैं तथा वे विभिन्न परिमाण वाले भी हैं। जैसे—८ अक्षरों से गायत्री (१ पाद) का स्वरूप निष्पन्न होता है। अग्निदेवता भी आठ वसुओं के कारण अष्टावयव है। अग्निलोक पृथिवी भी, आप्, फेन, मृत्, सिकता, शर्करा, अश्मा, अयस्, तथा हिरण्यभेद से अष्टावयव है। इस प्रकार गायत्रीछन्द अग्निदेवता तथा उसके प्रदेशविशेष पृथिवी का बोध कराता है। शतपथब्राह्मण के षष्ठ काण्ड में इसका स्पष्ट दिग्दर्शन हुआ है। इसी एकादशाक्षर त्रिष्टुप्छन्द एकादशावयव अन्तरिक्ष स्थान तथा तत्प्रदेशीय इन्द्र व रुद्रादि देवताओं का बोधक है। अतः देवताओं के प्रदेशविशेष तथा उनके परिमाणविशेष का बोधक होने से छन्दोज्ञान भी देवतास्वरूप के परिज्ञान में उपयोगी है। जिस प्रकार ऋङ्मन्त्रों के द्वारा पृथिव्यादिप्रदेशभेदभिन्न महोक्थस्थान की प्रतीति होती है। उसी प्रकार साममंत्रों के द्वारा देवता के महाव्रत स्थान की तथा यजुर्मन्त्रों के द्वारा देवता के अनायतन अन्तरिक्ष स्थान की प्रतीति होती है। इसी रहस्य का गुरुवर्य ने वेदधर्मव्याख्यान में उद्घाटन किया है।

## ऋषि

ऋषिविशेषों का विचार करने से पूर्व ऋषिशब्द वेद में किन-किन अर्थों में प्रयुक्त हुआ है, इसका विचार कर लेना आवश्यक है। ऋषिशब्द का वेद में प्रधान रूप से चार अर्थों में प्रयोग हुआ है। असत् (प्राण) अर्थ में, रोचना (नक्षत्र) रूप अर्थ में, प्राकृतिक (आधिदैविक) अतीन्द्रिय मौलिक प्राणों के द्रष्टा (साक्षात्कर्त्ता) अर्थ में तथा मंत्रों के वक्तारूप अर्थ में। उत्तर—उत्तर अर्थ की अपेक्षा प्रथम—प्रथम अर्थ प्रधान है। गुणप्रधानभाव होने पर भी उपर्युक्त चारों अर्थों में ही ऋषिशब्द का प्रयोग दृष्टिगोचर होता है। असत्—

शब्द से यहां मौलिक प्राण का ग्रहण है। जैसा कि शतपथब्राह्मण के षष्ट काण्ड में निम्न श्रुति से स्पष्ट हो रहा है—

'असद् वा इदमग्र आसीत्। तदाहुः किं तदसदासीदिति ऋषयो वा व ते अग्रे असदासीत् तदाहुः के ते ऋषय इति। प्राणा वा ऋषयः। ते यत् पुराऽस्मात् सर्वस्मादिदमिच्छन्तः श्रमेण तपसाऽरिषन् तस्माद् ऋषयः।'

उपर्युक्त श्रुति से यह स्पष्ट हो जाता है कि मौलिक प्राण ही ऋषि हैं और वे ही 'असत्' कहलाते हैं। वे असत् इसलिए कहलाते हैं कि जिस पदार्थ में प्राण की सत्ता होती है, उसे सत् कहते हैं। और प्राणरहित को 'असत्' क्योंकि 'प्राणे प्राणाभावः' इस न्याय से स्वयं प्राणरूप ऋषि में प्राण का अभाव है अतः उसे 'असत्' कहा गया है। सृष्टि से पहिले इसी मौलिक प्राणरूप ऋषि की सत्ता थी, उसीसे आगे जाकर संपूर्ण विश्व का विकास हुआ है। इसीलिए मनुस्मृति में लिखा है—

'ऋषिभ्यः पितरो जाताः पितृभ्यो देवदानवाः।
देवेभ्यश्च जगत्सर्वं चरं स्थाण्वनुपूर्वशः॥'

(मनु०)

प्रकारान्तर से यजुर्मन्त्रों को ऋषि कहते हैं। दो अवयव वाले ब्रह्म को यजु कहते हैं। अर्थात् एक-एक यजुर्मन्त्र के दो अवयव होते हैं—यत् और जू। गतिशील तत्त्वरूप अमृत ब्रह्म यत् है। तथा स्थितिशील अमृत ब्रह्म ही जू है। इस जू को ही वाक् या आकाश कहते हैं। जैसा कि 'जूराकाशे सरस्वत्यां पिशाच्यां यवनेऽस्त्रियाम्' इस कोश से स्पष्ट है। गतिशील बलात्मक प्राण ही वायु है। अनवच्छिन्न सर्वत्र व्यापक स्थितिशील वाक् तत्त्व ही आकाश है। ये वाक् और प्राण अथवा वायु वा आकाश परस्पर अविनाभूत हैं। अतः अविनाभूत होने से यह एकीभूत तत्त्व ही यजु या ऋषि कहलाता है। उसे वाङ्मय प्राण या आकाशमय वायु कह सकते हैं। इसी तथ्य का निम्नांकित शतपथश्रुति प्रतिपादन कर रही है—

'अयं वाव यजुर्योऽयं पवते। एष हि यन्नेवेदं सर्वं जानयति। एतं यन्तमिदमनु प्रजायते। तस्माद्वायुरेव यजुः। अयमेवाकाशो 'जूः' यदिदमन्तरिक्षम्। एतं ह्याकाशमनु जवते। तदेतद् यजुर्वायुश्च अन्तरिक्षं च, यच्च जूश्च, तस्माद् यजुः। एष एव 'यत्' एष ह्येति (गच्छति)। तदेतद् यजुः ऋक्सामयोः प्रतिष्ठितम्। ऋक्सामे वहतः।

(शत. ब्रा. १० का.। २ प्र.। ३. ब्रा. १–२ कण्डिका)

जैसे :—

"यो वै वायुः स इन्द्रः, यः इन्द्रः स वायुः।" (शत० ब्रा० ४।१।३।१९)
"यः स आकाशः इन्द्र एव सः।" (जै०उ०ब्रा० १।२८।२)
"ऋक्सामे वै इन्द्रस्य हरी।" (ऐ० ब्रा० २।२४)

इसी यजुरूप ऋषिप्राण से सम्पूर्ण चराचर की उत्पत्ति होती है। इसी से वेदरूप विज्ञान प्रवृत्त होता है। इसी से ब्राह्मणवंशरूप ब्रह्मगोत्र प्रवृत्त होता है। अत एव ये ऋषिप्राण भी सृष्टिप्रवर्त्तक, वेदप्रवर्त्तक तथा गोत्रप्रवर्त्तक भेद से मुख्यतया तीन प्रकार के हैं।

इनमें से सृष्टिप्रवर्त्तक ऋषियों के तीन वर्ग हैं—एकर्षि, सप्तर्षि व दशर्षि। असङ्गस्वभावता के कारण जो दूसरे प्राणों से असंसृष्ट होकर रहते हैं, वे एकर्षि हैं। प्रजापतिप्राण एकर्षिप्राण है। जो प्राण सात-सात संख्या में साथ रहते हैं, न अधिक संख्या में व न न्यूनसंख्या में, वे सप्तर्षि प्राण कहलाते हैं। वे सप्तर्षि-प्राण भी अग्निविध, साकंजविध, गोविध तथा स्वसृविध भेद से चार प्रकार के हैं।

'चत्वार आत्मा द्वौ पक्षौ पुच्छमेकम्" इस प्रकार प्रत्येक वस्तु में चार आत्मप्राण, दो पक्षप्राण और एक प्रतिष्ठारूप पुच्छप्राण—ये जो सात प्राण रहते हैं, वे अग्निविध सप्तर्षि प्राण है।

शरीर के श्रीभागरूप शिरोभाग में दो श्रोत्र, दो चक्षु, दो घ्राण तथा एक वाक् इस प्रकार जो सात प्राण साथ रहते हैं, वे साकंज सप्तर्षिप्राण हैं, जिनका निरूपण निम्न श्रुतियों से किया गया है :—

**साकंजानां सप्तमाहुरेकजं षडिद्यमा ऋषयो देवजा इति।**
**तेषामिष्टानि विहितानि धामशः स्थात्रे रेजन्ते विकृतानि रूपशः॥**
(ऋ०सं० १।१६४।१५)

**अर्वाग् विलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन् यशो निहितं विश्वरूपम्।**
**तस्यासत ऋषयः सप्त तीरे वागष्टमी ब्रह्मणा संविदाना॥**
(शत० १४।५।२।४)

इस मंत्र की व्याख्या करते हुए भगवान्[1] याज्ञवल्क्य ने स्पष्ट कर दिया है

---

१. अर्वाग् विलश्चमस ऊर्ध्ववुध्न इति। इदं तच्छिर एष हि अर्वाग्विलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन् यशो निहितं विश्वरूपमिति। प्राणा वै यशो निहितं यशो विश्वरूपम्, प्राणानेवैतदाह। तस्यासत ऋषयः सप्त तीरे इति प्राणा वा ऋषयः प्राणानेतदाह। वागष्टमी ब्रह्मणा संविदाना इति वाग् हि अष्टमी ब्रह्मणा संवित्ते।

कि ये सातों प्राण ही नीचे की तरफ जिसका विवर है तथा ऊपर की तरफ जिसका बुध्न (मूलभाग) है, ऐसे इस मस्तकरूपी पात्र में निहित हैं। आध्यात्मिक इन्हीं सातों प्राणों को [1]भगवान् याज्ञवल्क्य ने गोतम, भरद्वाज, विश्वामित्र, जमदग्नि, वसिष्ठ, कश्यप तथा अत्रि बतलाया है।[2] अध्यात्म में वसिष्ठ ऋषि प्राण, भरद्वाज मन, जमदग्नि चक्षु, विश्वामित्र श्रोत्र तथा विश्वकर्मा वाक् है। इसका भी प्रतिपादन शतपथ ब्राह्मण के चयन-प्रकरण में किया गया है।

ज्योति, गो, आयु भेद से भिन्न सूर्य के तीन मनोताओं में गोप्राण से उत्पादित सूर्यरश्मिसंनिविष्ट धूम्र, धूमल, शोण (लाल) हिरण्य, पीत, हरित, नील वर्णरूप प्राण ही गोविध सप्तर्षि प्राण हैं। इनका निरूपण गुणवर्यविरचित 'अहोरात्रवाद' ग्रन्थ में द्रष्टव्य है।

'सप्त स्वसारः सुविताय सूर्यं वहन्ति हरितो रथे' इस मंत्र में निर्दिष्ट सात प्राण स्वसृविध सप्तर्षि प्राण हैं।

जिन प्राणों में एक, दो, तीन या इससे अधिक प्राण समस्त, व्यस्त अथवा यथासम्भव मिले रहते हैं तथा जिनमें आवाप व उद्वाप अर्थात् नवीन प्राण के

---

१. इमावेव गोतमभरद्वाजौ। अयमेव गोतमः, अयमेव भरद्वाजः। इमावेव विश्वामित्र-जमदग्नी। अयमेव विश्वामित्रः, अयं जमदग्निः। इमावेव वसिष्ठकश्यपौ। अयमेव वसिष्ठः। अयं कश्यपः। वागेवात्रिः। वाचा ह्यन्नमद्यते। अत्तिर्ह वा नामैतद् यदत्रिरिति सर्वस्यात्ता भवति सर्वस्यान्नं भवति य एवं वेद। (शत०ब्रा० १४।५।६।४-६)

२. प्राणो वसिष्ठ ऋषिः, यद्वै नु श्रेष्ठस्तेन वसिष्ठः।
अथो यद्वस्तृतमो वसति तेनो एव वसिष्ठः ॥१॥

मनो वै भरद्वाज ऋषिः अन्नं वाजः। यो वै मनो बिभर्ति सोऽन्नं वाजं भरति। तस्मान्मनो भरद्वाज ऋषिः ॥२॥

चक्षुर्वै जमदग्निर्ऋषिः। यदनेन जगत् पश्यति अथो मनुते तस्माच्चक्षुर्जमदग्निः ऋषिः ॥३॥

श्रोत्रं वै विश्वामित्र ऋषिः। यदेनेन सर्वतः शृणोति, अथो यदस्मै सर्वतो मित्रं भवति तस्माच्छ्रोत्रं विश्वामित्र ऋषिः ॥४॥

वाग् वै विश्वकर्मऋषिः। वाचा हीदं सर्वं कृतं तस्माद्वाग् विश्वकर्मऋषिः।

(शत० ब्रा० चयनप्रकरण)

संनिवेश व प्राचीन के निष्कासन से रूपान्तरता प्राप्तिरूप परिवर्तन हो जाता है, उन्हें दशर्षि प्राण कहते हैं। भृगु, अंगिरा, अत्रि, मरीचि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, दक्ष, वसिष्ठ व अगस्त्य दशर्षि प्राण हैं। ये प्राण हिरण्यगर्भ प्रजापतिप्राण से उत्पन्न मनुप्राण से उत्पन्न होते हैं तथा सृष्टिजनक अग्निष्वात्तादि सप्त पितृप्राणों को उत्पन्न करते हैं। इसी तथ्य का निरूपण भगवान् मनु ने मनुस्मृति में किया है। जैसे—

> मनोर्हैरण्यगर्भस्य ये मरीच्यादयः सुताः।
> तेषामृषीणामाद्यानां पुत्राः पितृगणाः स्मृताः॥

ये प्राण अनेक प्रकार के हैं, अतएव 'विरूपास इद् ऋषयः' (ऋ. ८।२।१) में ऋषियों के नानारूपत्व का उल्लेख है।

सृष्टिप्रवर्त्तक अंगिरा, वसिष्ठ, अगस्त्य आदि प्राण आध्यात्मिक, आधिभौतिक व आधिदैविक भेद से तीन प्रकार के हैं। अध्यात्म में ये प्राण मन को केन्द्र बनाकर सारे शरीर में व्याप्त रहते हैं। और इन आध्यात्मिक ऋषि प्राणों से अध्यात्म में भिन्न-भिन्न भावों की उत्पत्ति होती है।

अध्यात्म में मरीचिप्राण से संभूतिधर्म उत्पन्न होता है, जो कि सन्तानादि संसारधर्मों की प्रवृत्ति में कारण है। अंगिरा प्राण स्मृति का जनक है। जिस पदार्थ से संबंधित अंगिरा प्राण शरीर में है, उसी विषय की स्मृति होती है अन्य की नहीं। अत्रिप्राण से गुणों में दोषदृष्टि का अभावरूप अनसूयागुण उत्पन्न होता है। भृगुप्राण से ख्याति उत्पन्न होती है। वसिष्ठप्राण से बलविशेषरूप ऊर्जा उत्पन्न होती है। क्रतुप्राण से व्यक्तिविशेष या वस्तुविशेष के प्रति प्रवणतारूप संनति गुण उत्पन्न होता है, पुलस्त्य प्राण से प्रीति, पुलहप्राण से क्षमा, दक्षप्राण से वाक्, बुद्धि तथा शरीर के कार्यों की आरम्भक उत्साहविशेषरूप दक्षता उत्पन्न होती है। तथा नारदप्राण से श्रद्धाविरुद्धा कलहकारिणी प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। इस प्रकार आध्यात्मिक मरीच्यादिप्राण शरीर में विभिन्न वृत्तियों या धर्मों को उत्पन्न करते हैं।

आधिदैवत में ये मरीच्यादि प्राण आधिदैविक, हिरण्यगर्भ मण्डल के मनुतत्त्व को केन्द्र बनाकर रश्मिरूप से इतस्ततः व्याप्त रहते हैं। हिरण्यगर्भ से सम्बन्धित ये मानवप्राण दश भागों में विभक्त होकर विराट् पुरुष के संपादक बनते हैं। अधिभूत में ये प्राण भूताग्नि से उपलक्षित अंगिरा अग्नि को आधार बनाकर आधिभौतिक पदार्थों में व्याप्त रहते हैं। आधिभौतिक पदार्थों में

वर्त्तमान इन्हीं प्राणों को लक्ष्य में रख कर 'तेऽङ्गिरसः सूनवः' अंगिरा अग्नि को आधार बनाकर रहते हैं, अत एव इन्हें अंगिरा के पुत्र कहा गया है।

'विरूपास इद् ऋषयस्त इद् गम्भीरवेपसः।
ते अङ्गिरसः सूनवस्ते अग्नेः परिजज्ञिरे ॥' इति।

कृत्तिकादि नक्षत्रों के लिए भी ऋषि शब्द का प्रयोग होता है। जैसे-

'एकं द्वे त्रीणि चत्वारीति वा अन्यानि नक्षत्राणि अथैता एव भूयिष्ठा यत् कृत्तिकाः। ऋक्षाणां ह वा एता अग्ने पत्न्य आसुः। सप्तर्षी नु ह स्म वै पुरर्क्षा इत्याचक्षते। अमी ह्युत्तरा हि सप्तर्षय उदयन्ति पर एताः।

(शत ब्रा. द्वि का.)

अर्थात् अन्य नक्षत्र एक दो तीन या चार संख्या में होते हैं। किन्तु कृत्तिका के तारे अनेक हैं। ये कृत्तिका पहिले ऋक्षों की पत्नियां थीं। सप्तर्षियों को ही प्राचीन काल में ऋक्ष कहते थे। ये सप्तर्षि उत्तर की तरफ उदित होते हैं। यहां कृत्तिकाओं को सप्तर्षिरूप ऋक्षों की पत्नी बतला कर इनका ऋषित्व सिद्ध किया गया है। क्योंकि ऋषियों की पत्नियां ऋषि ही हो सकती हैं। यहाँ ऋक्ष शब्द से—

'जज्ञानः सप्तमातृभिर्मेधामाशासत श्रिये।
अयं ध्रुवो रयीणां चिकेतदा' ॥

इस मंत्र में निरूपित सप्तमातृकाओं का ग्रहण है। वे ही ऋक्षनामक मृग के आकार में होने से ऋक्ष कहलाती हैं। उन्हीं में ऋषि शब्द का गौण प्रयोग उपर्युक्त 'सप्तर्षी नु ह स्म वै पुरर्क्षा इत्याचक्षते' इस शतपथश्रुति में हुआ है। इसी प्रकार—

य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वद् ऋषिर्होता न्यषीदत् पिता नः।
स आशिषा द्रविणमिच्छमानः प्रथमच्छदवरां आविवेश ॥
विश्वकर्मा विमना आद् विहाया धाता विधाता परमोत संदृक्।
तेषामिष्टानि समिषा मदन्ति यत्र सप्त ऋषीन् पर एकमाहुः ॥

इत्यादि मंत्रों में ध्रुवतारा में तथा उसके समीपतरवर्ती अन्य ताराओं में और मत्स्य, अगस्त्य, वसिष्ठादि नक्षत्रों में ऋषिशब्द का प्रयोग देखा जाता है। तात्पर्य यह है कि रोचनारूप नक्षत्रों में प्रतिष्ठित सभी प्राण ऋषिशब्द-वाच्य हैं। यही ऋषिशब्द का रोचनालक्षण द्वितीयप्रवृत्तिनिमित्त है।

द्रष्टृत्वलक्षण ऋषित्व—ऋषि, पितर, देव, असुर आदि भेदभिन्न नानाविध प्राकृतिक (आधिदैविक) प्राणों का तथा रोचनालक्षण प्राणों का तपः—

प्रभावजन्य अतिशय के द्वारा आधिदैविक प्राणों का साक्षात्कार करने वाले विदित–वेदितव्य, अधिगतयाथातथ्य व्यक्तियों के लिए भी ऋषिशब्द का प्रयोग होता है। उनमें द्रष्टृत्वलक्षण ऋषित्व है। इसीलिए भगवान् यास्क ने "साक्षात्कृद्धर्माणो हि ऋषयो बभूवुस्तेऽसाक्षात्कृतधर्मभ्योऽवरेभ्य उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादुः।" इस उक्ति के द्वारा इनको प्राकृतिक पदार्थों का साक्षात्कार करने वाला बतलाया है।

अजान् ह वै पृश्नीन् तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयम्भु अभ्यानर्षत् तद् ऋषीणामृषित्वम्।
यज्ञेन वाचः पदवीमायन् तामन्वविन्दन् ऋषिषु प्रविष्टाम्॥

इत्यादि श्रुतियों में इसी द्रष्टृत्वलक्षणप्रवृत्तिनिमित्त से ही ऋषिशब्द का प्रयोग हुआ है।

## वक्तृत्वलक्षण ऋषित्व

प्राकृतिक[1] (आधिदैविक) पदार्थों का तपःप्रभावजन्य आर्षदृष्टि से साक्षात्कार करने वालों ने ही शब्दसंप्रदायात्मक वेद के मंत्रों का निर्माण किया है अर्थात् कथन किया है। अतः उन मंत्रों का कथन करने के कारण उन ऋषियों में ही वक्तृत्वलक्षण ऋषित्व भी है। जैसा कि—

यामृषयो मन्त्रकृतो मनीषिणः अन्वैच्छन् देवास्तपसा श्रमेण।
तां देवीं वाचं हविषा यजामहे सा नो दधातु सुकृतस्य लोके॥
नमो ऋषिभ्यो मन्त्रकृद्भ्यो मन्त्रपतिभ्यः।'

इत्यादि श्रुतियों में 'मन्त्रकृत्' स्पष्ट कर दिया गया है। किन्तु इस तथ्य को मानने पर द्रष्टृत्वलक्षण तथा वक्तृत्वलक्षण ऋषियों में कोई अंतर नहीं रहेगा, यह प्रश्न उपस्थित हो सकता है। इसका प्रथम समाधान तो यही है कि पदार्थों का साक्षात्कार करने के कारण द्रष्टृत्वलक्षणप्रवृत्तिनिमित्त के द्वारा ऋषि कहा गया है। साक्षात्कृत पदार्थों के स्वरूप का मंत्ररूप शब्द द्वारा कथन करने के कारण उन्हें ही वक्तृत्वलक्षण प्रवृत्ति निमित्त से भी ऋषि कहा गया है। इस प्रकार यद्यपि दोनों प्रवृत्तिनिमित्तों के मानने पर अर्थ में कोई

---

१. आविर्भूतप्रकाशानामनभिप्लुतचेतसाम्।
अतीतानागतज्ञानं प्रत्यक्षान्न विशिष्यते॥
अतीन्द्रियानसंवेद्यान् पश्यन्त्यार्षेण चक्षुषा।
ये भावा वचनं तेषां नानुमानेन बाध्यते॥
(वाक्यपदीय ब्रह्मकाण्ड)

अंतर नहीं आता, किंतु कितने ही मंत्रों में वस्तुतः जिन्होंने प्राकृतिक पदार्थों का साक्षात्कार नहीं किया है, उन अचेतन व चेतन पदार्थों में भी 'येनोच्यते स ऋषिः' इस व्युत्पत्ति को लेकर वक्तृत्वलक्षण ऋषिशब्द का व्यवहार हुआ है। जैसे—संवादस्तवों में तथा आत्मस्तवों में।

तात्पर्य यह है कि मन्त्रों का वर्ग ५ प्रकार का है—

(१) भाववृत्त वर्ग (२) देवस्तव वर्ग (३) वक्त्रात्म वर्ग (४) देवात्मस्तव वर्ग (५) संवाद वर्ग। भाववृत्तात्मक मन्त्रवर्ग में सृष्टि का निरूपण है। देवस्तव वर्ग में प्राणदेवताओं का स्वरूप तथा उनके धर्म बतलाए गए हैं। इन दोनों वर्गों में मन्त्रद्रष्टा ही ऋषि हैं जो कि मन्त्रप्रणेता भी हैं। वक्त्रात्मस्तववर्ग में मन्त्रप्रणेता ऋषि अपने मुख से अपनी स्तुति करवाता है। इन दोनों वर्गों में चूंकि मन्त्रप्रणेता ऋषि या देवता अपने मुख से अपनी स्तुति करते हैं, अतः वे ही प्रतिपाद्य होने से 'या उच्यते प्रतिपाद्यते' इस परिभाषा के अनुसार देवता हैं तथा वे ही 'येनोच्यते स ऋषिः' इस परिभाषा के अनुसार ऋषि हैं। संवादरूप मंत्रवर्ग में मन्त्रप्रणेता के ऋषित्व का अपह्नव कर संवाद करने वाले व्यक्तियों में ही क्रमशः ऋषित्व व देवतात्व न होने पर भी आरोपित ऋषित्व है। अन्त के वर्ग में सर्वत्र आरोपित ऋषित्व ही है।

बृहद्देवताकार शौनक ने पांचों वर्गों के स्थान में तीन ही वर्ग माने हैं। उन्होंने भाववृत्तवर्ग का देवस्तववर्ग में अन्तर्भाव माना है और वक्त्रात्मस्तव तथा देवतात्मस्तववर्ग को आत्मस्तव नाम से एक वर्ग माना है। जैसा कि बृहद्देवता में कहा है—

नवकः प्रथमस्त्वासां वर्गस्तुष्टाव देवताः।
ऋषिभिर्देवताभिश्च समूदे मध्यमो गणः॥
आत्मनो भाववृत्तानि जगौ वर्गस्तयोत्तमः।
उत्तमस्य तु वर्गस्य य ऋषिः सैव देवता॥
आत्मानमस्तौद्वर्गस्तु देवतां यस्तयोत्तमः।
तस्मादात्मस्तवेषु स्याद् य ऋषिः सैव देवता॥
संवादेष्वाह वाक्यं यः स तु तस्मिन् भवेद् ऋषिः।
यस्तेनोच्येत वाक्येन देवता तत्र सा भवेत्॥' इति

१. भाववृत्त का उदाहरण 'नासदासीत्' इत्यादि सूक्त है। इसमें परमेष्ठी-नामक ऋषि ने सृष्टि के मूलतत्त्व का प्रतिपादन किया है।

२. देवस्तव का उदाहरण —

> चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः ।
> आ प्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ॥

इत्यादि है । यहाँ सूर्यरूप प्राणदेवता के स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है ।

३. वक्त्रात्मस्तव का उदाहरण—

चतुर्थ मण्डल का २६ वां वामदेवसूक्त है । इसमें वामदेव ऋषि ने इन्द्र-रूप से अपनी स्तुति की है । जैसे—

> अहं मनुरभवं सूर्यश्चाहं कक्षीवाँ ऋषिरस्मि विप्रः ।
> अहं कुत्समार्जुनेयं न्यृञ्जेऽहं कविरुशना पश्यता मा ॥

(ऋ० ४।३।३६)

४. देवात्मस्तव का उदाहरण—

> अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः ।
> अहं मित्रावरुणोभा बिभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा ॥

इत्यादि आम्भृणीसूक्त है । यहाँ अम्भृण की पुत्री वाङ्नाम्नी ऋषिका अपने मुख से त्रैलोक्यव्यापक वाक्-नामक तत्त्व का ही निरूपण कर रही है । यहाँ आम्भृणी के ऋषित्व का अपह्नव कर प्रतिपाद्य वाक्-रूप देवता में ऋषित्व का आरोप किया गया है ।

५. संवादवर्ग का उदाहरण—अगस्त्यदृष्ट अगस्त्येन्द्रसंवादसूक्त है । जैसे—

> किं न इन्द्र जिघांससि भ्रातरो मरुतस्तव ।
> तेभिः कल्पयस्व साधुना मा नः समरणे वधीः ॥
> किं नो भ्रातरगस्त्य सखा सन्नति मन्यसे ।
> विद्मा हि ते यथा मनोऽस्मभ्यमिन्न दित्ससि ॥

यहाँ प्रथम मन्त्र में अगस्त्य इन्द्र से कह रहे हैं । अतः अगस्त्य ऋषि तथा इन्द्र देवता है । द्वितीय मंत्र में इन्द्र अगस्त्य से कह रहे हैं । अतः इन्द्र ऋषि है तथा अगस्त्य प्रतिपाद्य होने से देवता है । इस प्रकार देवस्तववर्ग में आधि-दैविक पदार्थों का साक्षात्कार करने वाले द्रष्टा ऋषियों से भिन्न ही ऋषि हैं । यही स्थिति संवादसूक्तों में है । जैसे—यमयमी-संवाद तथा पुरुराव-उर्वशी-संवादसूक्त में मन्त्रप्रणेता ऋषि नहीं है, किन्तु परस्पर यम व यमी और पुरुरवा व उर्वशी हैं जो कि मन्त्रप्रणेता नहीं हैं । अतः इन दो प्रकार के मन्त्र-वर्गों में ऋषिभिन्न व्यक्तियों में ही ऋषित्व का उपचार कर उन्हें ऋषि

वतलाया गया है। इस प्रकार द्रष्टृत्वलक्षण तथा वक्तृत्वलक्षण ऋषित्व सर्वथा भिन्न-भिन्न भी हैं।

ऊपर जो ऋषिशब्द के चार प्रवृत्तिनिमित्त (अर्थ) वतलाए गए हैं, उन चारों को दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—१. सृष्टिप्रवर्त्तक ऋषि-वर्ग, २. वेदप्रवर्त्तक ऋषिवर्ग।

प्राणलक्षण तथा रोचनालक्षण ऋषि सृष्टिप्रवर्त्तक श्रेणी में आते हैं। क्योंकि असल्लक्षण तथा रोचनालक्षण ऋषिरूप प्राणों से ही संसार के यावन्मात्र पदार्थों की सृष्टि होती है। जैसे—सूर्यादिरूप प्राण सृष्टि के कारण हैं, उसी प्रकार रोचनालक्षण कृत्तिका, भरणी आदि नक्षत्रों में विभिन्न प्राणों की सत्ता है जिनसे विभिन्न प्रकार के भौतिक पदार्थों का निर्माण होता है। अत: ये दोनों प्रकार के ऋषि सृष्टिप्रवर्त्तक हैं।

द्रष्टा तथा वक्तारूप ऋषि वेदप्रवर्त्तक ऋषियों की श्रेणी में आते हैं। क्योंकि इन्होंने प्राकृत पदार्थों का साक्षात्कार कर विविध प्राणों के स्वरूप-धर्मों का निरूपण मन्त्रों में किया है। वही मन्त्रराशि वेद है। इन ऋषियों का ज्ञान वेद के प्रतिसूक्त व प्रतिमन्त्र में आवश्यक है। इनके ज्ञान के विना वेदार्थ का सम्यग् ज्ञान सम्भव नहीं—यह इस निवन्ध के प्रारम्भ में ही बतलाया जा चुका है।

उपर्युक्त चारों प्रकार के ऋषियों में प्रत्येक के जन्म-कर्म-गुण-धर्म आदि व्यवस्थित हैं। एक के धर्म दूसरे में उत्पन्न नहीं हो सकते। जैसे अनेक संवत्सर सहस्रजीवित्व प्राणलक्षण तथा रोचनालक्षण ऋषियों का धर्म है, वह द्रष्टा व मन्त्रप्रणेता ऋषियों में उपपन्न नहीं हो सकता। इस प्रकार कुम्भजन्यत्व, मैत्रावरुणित्व, उर्वशीजन्यत्व आदिधर्मप्राणलक्षण और रोचनालक्षण नक्षत्ररूप वसिष्ठादि ऋषियों में ही सम्भव है न कि मन्त्रद्रष्टा व मन्त्रप्रणेता मनुष्य ऋषियों में। इसीलिए ऋग्वेद के सप्तम मण्डल में मन्त्रद्रष्टा व मंत्रप्रणेता वसिष्ठ ऋषि "उतासि मैत्रवरुणवसिष्ठोर्वश्या ब्रह्मन्मनसोऽभिजात:" इत्यादि मन्त्रों में प्राणरूप वसिष्ठ को मैत्रावरुणि[1] तथा उर्वशीजन्य बतला रहे हैं न कि स्वयं को। इस तथ्य को मन्त्र में 'असि' इस मध्यमपुरुष क्रिया के द्वारा स्पष्ट

---

१. 'उतासि मैत्रावरुणो वसिष्ठोर्वश्या ब्रह्मन् मनसोऽधिजात:।
द्रप्सं स्कन्नं ब्रह्मणा दैव्येन विश्वे देवा: पुष्करे त्वाऽददन्त ॥'
(ऋ० ७।३३।११)

कर दिया है। यदि स्वयं मंत्रद्रष्टा वसिष्ठ प्राणरूपवसिष्ठ ऋषि से भिन्न न होते तो अपने से विरुद्ध एव कर्त्ता की क्रिया 'असि' का प्रयोग न करते। 'त्वं' और 'अहं' का नितान्त भेद तमःप्रकाश के भेद की तरह लोकप्रसिद्ध है। इसीलिए भगवान् शंकर ने 'युष्मदस्मद्प्रत्ययगोचरयोः तमःप्रकाशवद्विरुद्ध-स्वभावयोरात्मानात्मनोः' इस उक्ति द्वारा इस तथ्य का स्पष्टीकरण किया है। अतः उपर्युक्त मन्त्रों में वसिष्ठप्राण का द्रष्टा 'वसिष्ठ' इस यशोनाम से प्रसिद्ध मनुष्यवसिष्ठ वसिष्ठप्राण को कुम्भजन्य, उर्वशीजन्य तथा मित्रावरुण-जन्य बतला रहे हैं। शौनक ने बृहद्देवता में—

तयोरादित्ययोः सत्रे दृष्ट्वाऽप्सरसमुर्वशीम्।
रेतश्चस्कन्द तत्कुम्भे न्यपतद्वासतीवरे ॥१॥
तेनैव तु मुहूर्त्तेन वीर्य्यवन्तौ तपस्विनौ।
अगस्त्यश्च वसिष्ठश्च तत्रर्षी संबभूवतुः ॥२॥
बहुधा पतितं रेतः कलशे च जले स्थले।
स्थले वसिष्ठस्तु मुनिः संभूत ऋषिसत्तमः ॥३॥
कुम्भे त्वगस्त्यः संभूतो जले मत्स्यो महाद्युतिः।
उदियाय ततोऽगस्त्यः शम्यामात्रो महातपाः ॥४॥
मानेन सम्मितो यस्मात्तस्मान्मान्य इहोच्यते।
यद्वा कुम्भादृषिर्जातः कुम्भेनापि हि मीयते ॥५॥
कुम्भ इत्यभिधानं च परिमाणं च लक्ष्यते।
ततोऽप्सु गृह्यमाणासु वसिष्ठः पुष्करे स्थितः ॥
सर्वतः पुष्करे तं हि विश्वे देवा अधारयन् ॥६॥

इत्यादि पद्यों के द्वारा मनुष्यवसिष्ठ को जो मित्र और वरुण के वीर्य से उर्वशी में उत्पन्न बतलाया है वह नामसामान्य के कारण प्राणलक्षण तथा रोचनालक्षण वसिष्ठ के धर्मों का मनुष्यऋषि में आरोप करके यह कहा है। वस्तुतः मनुष्यऋषि में इन धर्मों की उपपत्ति कथमपि सम्भव नहीं।

इसका संक्षिप्त तात्पर्य यही है कि आकाश की सबसे बड़ी विषुवत्-नामक मध्यरेखा में, समुद्ररूप अन्तरिक्ष में, कुम्भराशिस्थ मित्र (पूर्व कपाल) और वरुण (पश्चिम कपाल) के रेतःसेक (प्राण के मिश्र) से वसिष्ठ, अगस्त्य तथा

---

'सत्रे ह जाता विषिता नमोभिः कुम्भे रेतः सिषिचतुः समानम्।
ततो ह मान उदियाय मध्यात् ततो जातमृषिमाहुर्वसिष्ठम् ॥
(ऋ० ७।३३।१३)

'अप्सरसः परिजज्ञे वसिष्ठः' (ऋ० ७।३३।१२)

मत्स्य-नामक तीन प्राण उत्पन्न होते हैं। उनमें उत्तर की तरफ का प्राण वसिष्ठ, दक्षिण की तरफ का प्राण अगस्त्य तथा मध्यमप्राण मत्स्य कहलाता है। आकाश को पूर्व व पश्चिम इन दो भागों में विभक्त करने वाली विषुवन्नामक मध्यरेखा याम्योत्तर-रेखाओं (दक्षिणोत्तर-रेखाओं) में सबसे उरु अर्थात् विशाल है। अतः उर्वशीपद उस मध्यरेखा का ही वाचक है। वह अन्तरिक्ष-रूप समुद्र में सरण करती है। इसलिए 'अप्सु सरतीति' व्युत्पत्ति से अप्सरा कहा गया है तथा वह याम्योत्तर विषुवद् रेखा दिक् है इसलिए भी अप्सरा कहा गया है। इसीलिए माहित्थि ऋषि ने 'दिशश्च उपदिशश्च वै अप्सरसः' ऐसा कहा है। उस मध्यरेखा में जब आकाश के पूर्वकपालस्थ आदित्य और पश्चिमकपालस्थ आदित्य, जिनको कि वेद में क्रमशः मित्र व वरुण पदों से व्यवहृत किया गया है, के प्राण का मिश्रण होता है। उससे उपर्युक्त वसिष्ठादि तीनों प्राणों की उत्पत्ति होती है। इसी अभिप्राय से उन प्राणों को मित्रा-वरुणजन्य तथा उर्वशीजन्य बतलाया गया है। विस्तारभय से इस रहस्य का अधिक विवेचन यहाँ नहीं किया जा रहा है। इससे अधिक जिज्ञासुओं को स्वर्गीय विद्यावाचस्पति श्रीमधुसूदनजी ओझा-कृत 'महर्षिकुलवैभव' पुस्तक का अवलोकन करना चाहिए।

## छन्द

यद्यपि वाक्-छन्दों में मात्रा, वर्ण, गण सभी का परिमाण होता है। परिमित वर्ण वर्णच्छन्द, परिमित मात्रा मात्राच्छन्द तथा परिमित गण गणच्छन्द कहलाते हैं। तथापि वेद में प्रधानतया वर्णच्छन्दों का ही प्रयोग हुआ है। अर्थात् वहाँ वर्णों का परिमाण ही छन्दों में होता है न कि मात्रा और गण का जैसा कि लौकिक छन्दों में होता है। वैदिक छन्दों में प्रमुख छन्द गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप् व जगती—ये सात हैं। इनमें गायत्री में २४ अक्षर होते हैं। ४–४ अक्षरों की वृद्धि से उष्णिक्, अनुष्टुप् आदि शेष छन्दों का स्वरूप बनता है। जैसे—गायत्री में २४ अक्षर, उष्णिक् में २४+४=२८ अक्षर, अनुष्टुप् में २८+४=३२ अक्षर, बृहती में ३२+४=३६ अक्षर, पंक्ति में ३६+४=४० अक्षर, त्रिष्टुप् में ४०+४=४४ अक्षर और जगती में ४४+४=४८ अक्षर होते हैं। इन अक्षरों वाले ये छन्द आर्ष छन्द कहलाते हैं। इन्हीं आर्ष छन्दों में न्यूनाधिक विकारों के होने से ये ७ छन्द पुनः सात-सात प्रकार के हैं। इन सात विप्रकारों में तीन प्रकार के विकार दैव, आसुर व

प्राजापत्य-नामक हैं तथा चार प्रकार के विकार आर्षी, साम्नी, याजुषी तथा ब्राह्मी-नामक हैं।

आर्ष गायत्र्यादि छन्द ही जब १६ अक्षरों से हीन होते हैं, तब प्राजापत्य कहलाते हैं। जैसे २४ अक्षर वाले गायत्री में १६ अक्षर न्यून कर देने पर ८ अक्षर वाला गायत्री छन्द ही प्राजापत्य गायत्री कहलाता है। इसी प्रकार २८ अक्षर वाले आर्षी उष्णिक् में १६ अक्षर कम कर देने पर बारह अक्षर वाली उष्णिक् प्राजापत्य कहलाती है। यही स्थिति अनुष्टुप् आदि छन्दों में है।

गायत्र्यादि छन्दों में १६-१६ अक्षरों को हटा देने पर प्राजापत्य गायत्री, उष्णिक् आदि का स्वरूप बनता है और प्रत्येक छन्द से उन हटाए हुए १६-१६ अक्षरों में से क्रमशः १, २, ३, ४, ५, ६, ७ अक्षरों से दैवी गायत्र्यादि का का स्वरूप निष्पन्न होता है। अर्थात् एकाक्षरा गायत्री दैवी गायत्री, द्व्यक्षरा उष्णिक् दैवी उष्णिक्, त्र्यक्षरा अनुष्टुप् दैवी अनुष्टुप्, चतुरक्षरा बृहती दैवी बृहती, पञ्चाक्षरा पंक्ति दैवी पंक्ति, षडक्षरा त्रिष्टुप् दैवी त्रिष्टुप्, सप्ताक्षरा जगती दैवी जगती है। आर्षी गायत्र्यादि पूरे अक्षरों में से न्यून किए हुए १६ अक्षरों में से क्रमशः दैवी गायत्र्यादि के स्वरूपनिर्मापक अक्षरों को कम कर देने पर अवशिष्ट अक्षरों से आसुरी गायत्री आदि का स्वरूप निष्पन्न होता है। अर्थात् १६—१=१५ आसुरी गायत्री, १६—२=१४ आसुरी उष्णिक्, १६—३ =१३ आसुरी अनुष्टुप् १६—४=१२ आसुरी बृहती, १६—५=११ आसुरी पंक्ति, १६—१० आसुरी त्रिष्टुप्, १६—७=९ आसुरी जगती होती है। इस प्रकार आर्षी गायत्र्यादि छन्द ही उपर्युक्त रीति से प्राजापत्य दैवी व आसुरी गायत्र्यादि प्रकारों में परिवर्तित हो जाते हैं।

इसी प्रकार इन्हीं गायत्र्यादि छन्दों के आर्षी, याजुषी, साम्नी व ब्राह्मी ये ४ प्रकार और हैं। ६-६ अक्षरों की ४ चरणों वाली गायत्री में १ चरण (६ अक्षर) की कमी कर देने पर वह गायत्री आर्ची कहलाती है। तथा ७-७ अक्षरों की चार पदों वाली उष्णिक् में १ पाद (७ अक्षर) की न्यूनता होने होने पर आर्ची उष्णिक् कहलाती है। यही स्थिति अनुष्टुप् आदि छन्दों में में समझनी चाहिए।

दो पादों की न्यूनता होने पर अर्थात् २४ अक्षरों वाली गायत्री में १२ अक्षर कम होने पर साम्नी गायत्री का स्वरूप सम्पन्न होता है। यही स्थिति उष्णिक् आदि छन्दों में समझनी चाहिए। गायत्री आदि छन्दों में ३ पाद की

कमी होने पर याजुषी गायत्री, उष्णिक् आदि का स्वरूप बनता है। जैसे—षडक्षरा चतुष्पदा गायत्री में ३ पदों (१८ अक्षरों) की कमी होने पर ६ अक्षर वाली एकपदा गायत्री याजुषी गायत्री है। यही स्थिति उष्णिक् आदि छन्दों में जाननी चाहिए। आर्ची, साम्नी व याजुषी गायत्री की समष्टि से ब्राह्मी गायत्री का स्वरूप सम्पन्न होता है। जैसे एकपदा आर्ची गायत्री द्विपदा साम्नी गायत्री, त्रिपदा याजुषी गायत्री अर्थात् ६+१२+१८=३६ अक्षरों वाली गायत्री ब्राह्मी गायत्री है। ब्राह्मी उष्णिक् आदि का भी स्वरूप इसी प्रकार समझना चाहिए। नीचे के परिलेख से इन सबके स्वरूप का स्पष्टीकरण हो जाता है—

परिलेख

| | | दैवी | आसुरी | प्राजापत्य | आर्षी | आर्ची | साम्नी | याजुषी | ब्राह्मी | प्रभेदाः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| गायत्री | | १ | १५ | ८ | २४ | १८ | १२ | ६ | ३६ | ९ |
| उष्णिक् | | २ | १४ | १२ | २८ | २१ | १४ | ७ | ४२ | ८ |
| अनुष्टुप् | | ३ | १३ | १६ | ३२ | २४ | १६ | ८ | ४८ | ७ |
| बृहती | | ४ | १२ | २० | ३६ | २७ | १८ | ९ | ५४ | ९ |
| पंक्ति | | ५ | ११ | २४ | ४० | ३० | २० | १० | ६० | ८ |
| त्रिष्टुप् | | ६ | १० | २८ | ४४ | ३३ | २२ | ११ | ६६ | १० |
| जगती | | ७ | ९ | ३२ | ४८ | ३६ | २४ | १२ | ७२ | ३ |

इन सातों छन्दों के पाद व्यवस्थाभेद से प्रत्येक छन्द के अनेक भेद बन जाते हैं जिनका निरूपण श्रीगुरुदेवविरचित 'छन्दःसमीक्षा' में किया गया है। गायत्री आदि छन्दों में एक अक्षर की कमी होने पर उन्हें 'निचृत्' गायत्री तथा दो अक्षरों की न्यूनता से 'विराट्' गायत्री आदि शब्दों से व्यवहृत किया जाता है। तथा १ अक्षर की अधिकता होने पर 'भुरिक' गायत्री तथा दो अक्षरों की अधिकता होने पर 'स्वराट्' गायत्री आदि शब्दों में उन्हें कहा जाता है। जैसे २३ अक्षरों की 'निचृत् गायत्री' २२ अक्षरों की 'विराट् गायत्री', २५ अक्षरों

की 'भुरिक् गायत्री' तथा २६ अक्षरों की 'स्वराट् गायत्री' कहलाती है। गायत्र्यादि छंद ही क्रमशः एक व दो अक्षरों की न्यूनता व अधिकता से 'निचृत्' व 'विराट्' तथा 'भुरिक्' व 'स्वराट्' इन शब्दों से व्यपदिष्ट होते हैं। जैसा कि 'ऊनाधिकेनैकेन निचृद्भुरिजौ। द्वाभ्यां विराट् स्वराजौ' इस सर्वानुक्रमणीवचन से स्पष्ट है।

इसी प्रकार गायत्री आदि छंदों के अन्य कुछ भेद भी वेदमंत्रों में उपलब्ध होते हैं। जैसे—पुर उष्णिक्, सतो बृहती तथा प्रस्तारपंक्ति। उष्णिक् के तीन चरणों के अक्षरों की संख्या क्रमशः ८, ८, १२ होती है। किन्तु यदि १२, ८, ८, इस प्रकार होती है तो उसे पुर उष्णिक् कहते हैं। पँक्ति में ८, ८ अक्षर वाले पाँच चरण होते हैं। यदि वहां क्रमशः १२, १२, ८, ८ अक्षर वाले चार चरण हों तो उसे प्रस्तारपंक्ति कहते हैं।

नीचे के परिलेख से इसका स्पष्टीकरण हो जाता है। जैसे—

परिलेख

प्रधान वैदिक छन्द

| नाम | पाद | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| | १ | २ | ३ | ४ | ५ |
| गायत्री | ८ अक्षर | ८ | ८ | | |
| उष्णिक् | ८ | ८ | १२ | | |
| पुर उष्णिक् | १२ | ८ | ८ | | |
| ककुप् | ८ | १२ | ८ | | |
| अनुष्टुप् | ८ | ८ | ८ | ८ | |
| बृहती | ८ | ८ | १२ | ८ | |
| सतो बृहती | १२ | ८ | १२ | ८ | |
| पंक्ति | ८ | ८ | ८ | ८ | ८ |
| प्रस्तारपंक्ति | १२ | १२ | ८ | ८ | |
| त्रिष्टुप् | ११ | ११ | ११ | ११ | |
| जगती | १२ | १२ | १२ | १२ | |

इसके अतिरिक्त अतिजगती, शक्वरी, अतिशक्वरी, अष्टि, अत्यष्टि आदि छन्दों का भी प्रयोग वेद में हुआ है जिनका निरूपण विस्तारभय से नहीं किया जा रहा है। संक्षेप से वैदिक-वाङ्मय-छन्दों का स्वरूप उपर्युक्त है। वाङ्मय

छन्दों के अतिरिक्त मा, प्रमा, प्रतिमा तथा अस्रीवि—ये ४ प्राणमय-छन्द भी हैं। क्योंकि छन्दन (यथेच्छाचार के प्रतिबन्धक धर्म) को छन्द कहते हैं। इन प्राणमय-छन्दों के द्वारा ही प्राणों (देवताओं) का छन्दन होता है, अतः ये भी छन्द हैं। तथापि शब्दराशिरूप वेद में वाङ्मय-छन्दों का ही प्रयोग होने से यहाँ वाङ्मय-छन्दों का ही स्वरूप-निरूपण किया गया है न कि प्राणमय-छन्दों का।

## देवता-निरूपण

यद्यपि देवता-शब्द व्यापक तथा देव-शब्द व्याप्य है क्योंकि देवता-शब्द से ऋषि, पितर, असुर, देव, गन्धर्व आदि प्राणों का ग्रहण है जब कि देव-शब्द से सौर ज्योतिर्मय प्राणों का ही ग्रहण होता है। देव-शब्द ज्योतिर्मय सौर प्राण का वाचक होने से ही तमोमय आसुर प्राण का विरोधी है। इसलिए श्रुतियों में जहाँ इन दोनों प्राणों का विरोध या स्पर्धा बतलाई गई है वहाँ 'देवाश्च असुराश्च उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे' इस प्रकार के वचनों में आसुर-प्राण के विरोधरूप में देव-शब्द का ही प्रयोग हुआ है न कि देवता-शब्द का। इस प्रकार देव व देवता-शब्द में ब्राह्मणवसिष्ठ की तरह सामान्य-विशेषभाव है। देव भी देवता है किन्तु देवता देव ही नहीं है, ऋषि, पितर, असुर, गन्धर्व आदि सभी प्राण देवता हैं, इसीलिए 'जायमानो वै जायते सर्वाभ्य एताभ्यो देवताभ्यः, में देवता-शब्द का प्रयोग किया गया है न कि देव-शब्द का। इसी प्रकार 'देवा ह वै यज्ञं तन्वाना असुररक्षसेभ्य आसङ्गाद् विभयांचक्रुः' इस शतपथ-वचन में भी असुर-विरोधित्वेन देवशब्द का ही प्रयोग किया है।

देवासुर-संग्राम दैवी व आसुरी-सम्पत्ति आदि सभी स्थलों में असुर-शब्द के साथ देव-शब्द का प्रयोग इस बात को स्पष्ट करता है कि असुर-विरोधी ज्योतिर्मय सौर प्राण देवशब्दवाच्य हैं न कि देवताशब्दवाच्य। अतः देवता-शब्द देव का पर्यायवाची नहीं, अपितु ऋषि आदि सभी प्राणों का बोधक है। इसीलिए ऋषिदैवत्यम्, पितृदैवत्यम्, देवदैवत्यम्, इस प्रकार ऋष्यादि शब्दों की तरह देवशब्द के साथ भी देवताशब्द का उपयोग बहुत जगह दृष्टिगोचर होता है।

उपर्युक्त सन्दर्भ से यह निर्विवाद सत्य है कि देवशब्द व देवताशब्द पर्यायवाची (समानार्थक) नहीं है। किन्तु इनमें व्याप्य-व्यापकभाव व सामान्य-विशेषभाव-सम्बन्ध है। देवताशब्द सभी प्राणों का वाचक होने से व्यापक, अत एव सामान्य है तथा देवशब्द देवताशब्द के वाच्य (अर्थ) एक विशेष

प्राण (सौर ज्योतिर्मय प्राण) का बोधक होने से विशेष है, अत एव व्याप्य है। फिर भी कोश में तथा पाणिनि ने देवशब्द से स्वार्थ में तल् प्रत्यय मान कर देवता-शब्द को देवशब्द का पर्याय बतलाया है, वह वैदिक परिभाषा से विरुद्ध है। किंतु उत्तरवैदिक काल में जब कि वेद का अध्ययनाध्यापन शिथिल हो गया, वैदिक परिभाषाओं का सम्यक् परिचय न होने से व्यवहार में देवता-शब्द का प्रयोग देवशब्द के लिए किया गया है। इसका एक कारण यह भी है कि वैदिक मंत्रों के जो देवता हैं, वे केवल ज्योतिर्मय सौर प्राण ही नहीं हैं, अपि तु उससे भिन्न ऋषि, पितर तथा अचेतन उलूखल, मुसल आदि भी हैं, अतः यहाँ देवता-शब्द अपने व्यापक अर्थ में ही प्रयुक्त है, इस अभिप्राय से वैदिक-मंत्र देवताओं के स्वरूप-विचार के समय देवताशब्द का ही प्रयोग उचित है। इसीलिए 'अविदितार्षेयच्छन्दोदैवतब्राह्मणेन मन्त्रेण याजयति' इत्यादि श्रुति में भी देवशब्द का प्रयोग न कर देवताशब्द का प्रयोग किया गया है। और शौनक ने भी बृहद्देवता में—

> "वेदितव्यं दैवतं हि मन्त्रे मन्त्रे प्रयत्नतः।
> दैवतज्ञो हि मन्त्राणां तदर्थमवगच्छति ॥
> प्रत्यक्षं देवतानाम यस्मिन्मन्त्रेऽभिधीयते।
> तामेव देवतां विद्यान् मन्त्रे लक्षणसम्पदा ॥
> तस्मात्तु देवतां नाम्ना मन्त्रे मन्त्रे प्रयोगवित् ॥"

इत्यादि पद्यों में देवता-शब्द का ही प्रयोग किया गया है। किन्तु आगे निरूपणीय देवताशब्द के पञ्चविध प्रवृत्तिनिमित्तों में केवल इस एक प्रवृत्ति-निमित्त को छोड़ कर शेष अर्थों में वह ज्योतिर्मय प्राणों का ही बोधक है। इसीलिये अन्य अर्थों के जो उदाहरण आगे प्रस्तुत किए जाने वाले हैं, उन सब में भी देवशब्द का ही प्रयोग मंत्रों में किया गया है न कि देवताशब्द का। जैसे—

> 'चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः।'

ज्योतिष्मान् द्युमण्डलस्थ प्राण, रोचनारूप तारकागण, शरीरधारी चेतन-प्राणविशेष, मान्त्रवर्णिक देवता तथा भूदेवता—इन पाँच अर्थों में देवताशब्द का प्रयोग शास्त्रों में मिलता है।

### ज्योतिष्मान् सौर प्राण

सारे संसार के उपादानकारण निरिन्द्रिय, ज्योतिष्मान्, द्युमण्डलस्थानवर्त्ती,

अग्नि, सोम, सूर्य, इन्द्र, वरुण आदि आधिदैविक प्राण देवता-शब्द का प्रथम अर्थ है। जैसे—

'चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः।
आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ॥

अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्।

'आदित्यं वा अस्तं अन्तं सर्वे देवा अनुयन्ति' [शत० ११ का० ६।२]

इत्यादि मन्त्रों में द्युमण्डलस्थ सौर अग्न्यादि प्राणों के लिए देवशब्द का प्रयोग हुआ है।

## रोचनालक्षण देवताशब्दार्थ

ये जो आकाश में तारे चमकते हैं इनमें भी देवशब्द का प्रयोग होता है। जैसे—

'चत्वार एकमभिकर्मदेवाः प्रोष्ठपदास इति यान् वदन्ति'

इस श्रुति में प्रोष्ठपदनक्षत्र के चारों तारों के लिए देवशब्द का प्रयोग हुआ है।

'अष्टौ देवा वसवः सोम्यासश्चतस्रो देवीरजराः श्रविष्ठाः।
यज्ञं न पान्तु वसवः पुरस्ताद्दक्षिणतोऽभियन्तु श्रविष्ठाः ॥'

इस मन्त्र में पूर्वदिशास्थित आठ ताराओं को वसुदेवता बतलाया है। इसी प्रकार—

'यस्य भान्ति रश्मयो यस्य केतवो यस्येमा विश्वा भुवनानि सर्वा।
स कृत्तिकाभिरभिसंवसानो अग्निर्नो देवो दधातु ॥'

इस मन्त्र में कृत्तिका के सात ताराओं में तेजस्वी तारे को कृत्तिकाओं से वेष्टित कार्तिकेय बतलाया है। इसी प्रकार फल्गुनीनक्षत्र में भी स्थूल-सूक्ष्म क्रम से अर्यमा, भग, मित्र, वरुण-शब्दों का प्रयोग निम्न मन्त्र में हुआ है। जैसे—

'गवां पतिः फल्गुनीनां समित्व तदर्यमन् वरुण मित्र चारु।
अर्यमा राजाऽजरस्तुविष्मान् फल्गुनीनामृषभो रोरवीति ॥
श्रेष्ठो देवानां भगवो भगासि तं त्वा विदुः फल्गुनी तस्य वित्तात्।
भगो दाता भग इत् प्रदाता भगो देवीः फल्गुनीराविवेश ॥'

शरीरधारी ११ इन्द्रियाँ, अष्टसिद्धि, नव तुष्टिरूप २७ वीर्यों से युक्त सत्त्व-विशाल-सृष्टिरूप ब्रह्मा, इन्द्र, प्रजापति, पितर, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, पिशाचरूप चेतन-प्राणियों को भी देवता-शब्द से निर्दिष्ट किया गया है। इनमें आदि के चार सौर प्राण हैं तथा अन्त के चार सौम्य प्राण हैं। आदि के चार

दिव्य, अतएव द्युमण्डलस्थ हैं तथा अन्त के चार अन्तरिक्ष नाष्ट्र प्राण हैं। इनमें जन्म, मृत्यु आदि धर्म तथा सुख-दुःखादि भोग भी होते हैं। इनके चरण भूमि पर नहीं टिकते तथा अपञ्चीकृत पञ्चभूतों से इनका शरीर बनता है। जैसा कि विष्णुपुराण में कहा है —

'सप्तद्वीपानि पातालवीथीश्च सुमहामुने।
सप्तलोका येन्तरस्था ब्रह्माण्डस्यास्य सर्वशः ।।१।।
स्थूलैः सूक्ष्मैस्तथा सूक्ष्मसूक्ष्मैः सूक्ष्मतरैस्तथा।
स्थूलैः स्थूलतरैश्चैतत् सर्वं प्राणिभिरावृतम् ।।२।।
अंगुलस्याष्टभागोऽपि न सोऽस्ति मुनिसत्तम।
न सन्ति प्राणिनो यत्र कर्म्मबन्धनबन्धनाः ।।३।।
सर्वे चैते वशं यान्ति यमस्य भगवान् किल।
आयुषोऽन्ते ततो यान्ति यातनास्तत्प्रचोदिताः ।।४।।
यातनाभ्यः परिभ्रष्टा देवाद्यास्वथ योनिषु।
जन्तवः परिवर्तन्ते शास्त्राणामेष निर्णयः ।।५।।'

जिसके उद्देश्य से कोई कर्म किया जाता है अथवा जिसको लक्ष्य कर या जिसके विषय में कुछ कहा जाता है, यह कर्म तथा वचन की उद्देश्यभूत वस्तु देवता शब्द का चतुर्थ प्रवृत्तिनिमित्त है। मन्त्र प्रायः द्रष्टाओं के वाक्य होते हैं। इसलिए इन मंत्रों में जिसको उद्देश्य कर[1] स्तुति, निंदा आदि ३५ भाव बतलाए गए हैं वे सब वस्तुएँ देवता-शब्द से व्यवहृत होती हैं और वहाँ देवता शब्द का प्रयोग इस चतुर्थ प्रवृत्तिनिमित्त को लेकर ही होता है। इस प्रवृत्तिनिमित्त को लेकर अक्ष, अश्व, मण्डूक आदि देवता-भिन्न पदार्थ भी देवता कहे गए हैं। इनमें देवतात्व पारिभाषिक है, अर्थात् स्वशास्त्रसंकेतित है न कि कर्मकृत या गुणकृत।

---

१. स्तुतिः प्रशंसा निंदा च संशयः परिदेवना।
स्पृहाशीः कत्थना याञ्चा प्रश्नः प्रैषः प्रवल्हिका ।।
नियोगश्चानुयोगश्च श्लाघा विलपितं च यत्।
आचिख्यासाऽथ संलापः पवित्राख्यानमेव च ।।
आहनस्या नमस्कारः प्रतिराधस्तथैव च।
संकल्पश्च प्रलापश्च प्रतिवाक्यं तथैव च।।
प्रतिषेधोपदेशौ च प्रमादापह्नवौ च ह।
उपप्रैषश्च यः प्रोक्तः संज्वरो विस्मयश्च यः ।।
आक्रोशोऽभिष्टवश्चैव क्षेपः शापस्तथैव च।

उपर्युक्त चारों अर्थों में आदि के दो अर्थों में अर्थात् ज्योतिष्मान्-प्राण देवताओं में तथा रोचनारूप नक्षत्रों में देवता-शब्द की प्रवृत्ति प्रकाशरूप गुण के कारण है। तृतीय विग्रहधारी चेतन-प्राणियों में देवतात्वजाति के कारण देवता-शब्द का प्रयोग है। चौथे पारिभाषिक मान्त्रवर्णिक देवताओं में तद्वाक्य-सम्बन्ध कृत देवता-शब्द की प्रवृत्ति है।

देवता शब्द का पंचम प्रयोग मनुष्य देवताओं में होता है। जातिब्राह्मण, तपोब्राह्मण, विद्याब्राह्मण भेद से त्रिधा विभिन्न ब्राह्मणो में विद्याब्राह्मण के विप्र, ऋषि, देवता तथा ब्रह्मा ये चार भेद हैं। इनमें उत्तरोत्तर पूर्वपूर्वापेक्षया श्रेष्ठ माने जाते हैं। जिन्होंने विद्याओं का अध्ययन किया है वे विप्र कहलाते हैं। तथा अलोभी और कुम्भपरिमित धान्य का संग्रह करने वाले, विना किसी प्रयोजन के ये किसी एक विद्या के पारगामी विद्वान्, विदितवेदितव्य, अधिगतयाथातथ्य तथा सत्यानुसन्धानपरायण ब्राह्मण, ऋषि कहलाते हैं। ये ही विद्वान् अपनी आर्ष-दृष्टि से प्राकृतिक प्राणों का साक्षात्कार करने वाले हैं तथा इनका ज्ञान प्रत्यक्षकल्प ही होता है। इन्हीं के लिए भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में कहा है—

'आविर्भूतप्रकाशानामनुपप्लुतचेतसाम्।
अतीतानागतज्ञानं प्रत्यक्षान्न विशिष्यते॥
अतीन्द्रियानसंवेद्यान् पश्यन्त्यार्षेण चक्षुषा।
ये भावान् वचनं तेषां नानुमानेन बाध्यते॥' इति।

यज्ञों द्वारा एक विशेष प्रकार के संस्कारों का अपनी आत्मा में आधान करने पर ये ऋषि ही देव कहलाते थे। यज्ञों द्वारा वे पाप, पीडा व मृत्यु का विनाश कर देवसंसद् में पहुँचते थे। इसीलिए श्रुति में कहा है कि—

'यथा वै मनुष्या एवं देवा अग्रे आसन्। तेऽयजन्त। ततो पाप्मानं मृत्युमवहृत्य दैवीं संसदमगच्छन्।' इति।

उन्हीं देवताओं का यह कथन था कि—

'सत्रस्य ऋद्धिरसि अगन्म ज्योतिरमृता अभूम।
दिवं पृथिव्या अध्यारुहाम अविदाम देवान् स्वर्ज्योतिः॥'

अर्थात् यज्ञ की यह समृद्धि है कि हमें ज्योति प्राप्त हुई। हम अमर बन गये। पृथिवीलोक से द्युलोक में आरूढ़ हुए और देवत्व को प्राप्त किया। इन देवों में भी जो सर्वाधिक-महिमाशाली व सर्वश्रेष्ठ होता था, उसे ब्रह्मा कहते थे। इसीलिये श्रुति में कहा गया है—

'ब्रह्मा देवानां पदवी कवीनाम् ऋषिर्विप्राणाम् महिषो मृगाणाम् ।
श्येनो गृध्राणां स्वधितिर्वनानां सोमः पवित्रमभ्येति रेभन् ॥'

उपर्युक्त रीति से ज्योतिर्मय, रोचनामय (नक्षत्रमय) २८ शक्तियों से युक्त शरीरधारी चेतन प्राणिविशेष, मनुष्यदेव तथा मन्त्रवर्णिक देव अर्थात् जिसके उद्देश्य से स्तुति आदि किए जाते हैं तथा जिसके उद्देश्य से हवि दी जाती है, इन सभी अर्थों में देवशब्द का प्रयोग वेद में हुआ है ।

वैदिक-मन्त्रों में प्रायः सभी प्रकार के देवताओं का निरूपण होने पर भी प्रधानरूप से मान्त्रवर्णिक देवतारूप अर्थ ही शब्द-राशिरूप वेद में गृहीत है । इन्हीं का निरूपण यास्ककृत निरुक्त व शौनकविरचित बृहद्देवता में किया गया है । मन्त्रार्थपरिज्ञान के लिए देवता का परिज्ञान प्रत्येक मन्त्र में आवश्यक है । इन देवताओं में कुछ[1] सूक्तभाक्, कुछ मन्त्रभाक् तथा कुछ मंत्रांशभाक् होते हैं । अर्थात् कुछ देवताओं का प्रतिपादन पूरे सूक्त में किया गया है । जिनका पूर्ण सूक्त में प्रतिपादन है, वे सूक्तभाक् कहलाते हैं । कतिपय देवताओं का निरूपण एक मंत्र में व मंत्रांश में मिलता है, वे मंत्रभाक् कहलाते हैं अथवा ऋक्भाक् कहलाते हैं । कुछ मंत्र ऐसे भी हैं जहाँ प्रधानरूप से अन्य देवता का निरूपण होने पर भी समान लोक या साहचर्य को लेकर गौणरूप से दूसरे देवता का निरूपण होता है । जैसे — [2]'अश्वं न त्वा वारवन्तम्' इस मंत्र में अग्नि प्रधान तथा अश्व गौण देवता है । अग्नि-देवता वाले मन्त्र में अप्रधान अश्व देवता का निरूपण होने से वह नैघण्टुक मंत्र है । जहाँ देवता का प्रत्यक्ष निर्देश नहीं किया गया है, वहाँ प्रकरणादि के द्वारा उसकी कल्पना करनी होती है । अर्थात् जिस यज्ञ में व यज्ञांग में उस मन्त्र का विनियोग है, उस यज्ञ व यज्ञांग का देवता ही उस मन्त्र का देवता माना जाता है । यदि यज्ञप्रकरण में वह मन्त्र न पठित हो और साक्षात् देवता का निर्देश भी न हो, तो इस मन्त्र के प्रजापति नराशंस आदि देवता [3]मतभेद से माने जाते हैं ।

---

१. देवतानामधेयानि मन्त्रेषु विविधानि हि ।
सूक्तभाञ्ज्यथ ऋग्भाञ्जि तथा नैपातिकानि च ॥१॥
मन्त्रेन्यदैवतेऽन्यानि गद्यन्तेत्र च कानिचित् ।
सालोक्यात् साहचर्याद्वा तानि नैपातिकानि तु ॥२॥ (बृहद्देवता)

२. अश्वं न त्वा वारवन्तं वन्दध्या अग्निं नमोभिः ।
सम्राजन्तमध्वराणाम् ॥

३. अथान्यत्र यज्ञात् प्राजापत्याः इति याज्ञिकाः । नाराशंसा इति नैरुक्ताः । अपि वा सा कामदेवता स्यात् । प्रायोदेवतो वा । इत्यादि । निरुक्त ७ अध्याय

इन देवताओं को प्रधानरूप से तीन भागों में विभक्त किया गया है, (१) पृथिवीस्थानीय (२) अन्तरिक्षस्थानीय और (३) द्युस्थानीय। पृथिवीस्थानीय देवताओं में अग्नि प्रधान है। अन्तरिक्षस्थानीयों में वायु अथवा मरुत्वान्, इन्द्र एवं द्युस्थानीयों में सूर्य प्रधान है। जैसा कि यास्क ने निरुक्त में कहा है—

तिस्र एव देवता भवन्ति अग्निर्भूस्थानः।
वायुर्वेन्द्रो वा अन्तरिक्षस्थानः। सूर्यो द्युस्थानः॥

वृहद्देवता में शौनक ने सूर्य को ही प्रधान देवता माना है। वही अपने को त्रिधा विभक्त कर पृथिव्यादि तीनों लोकों में अग्नि, वायु व सूर्य भेद से रहता है। अग्नि, वायु तथा सूर्य तीनों ही केशी हैं। अग्नि ज्वालाओं के कारण, वायु विद्युत् के कारण तथा सूर्य रश्मियों के कारण केशी है। जैसा कि वृहद्देवता में कहा है—

'जङ्गमस्य स्थावरस्य भवद्भूतभविष्यतः।
सर्वस्य सूर्य्यमेवैकं प्रभवं प्रलयं विदुः॥
असतश्च सतश्चैव योनिरेषा प्रजापतिः।
स यज्ञः स त्रयो वेदाः सा काष्ठा सा परा गतिः॥२॥
कृत्वैष हि त्रिधात्मानमेषु लोकेषु तिष्ठति।
देवान् यथायथं सर्वान् निवेश्य स्वेषु रश्मिषु॥३॥
अग्निः पृथिव्यामिन्द्रस्तु वायुर्वाप्यन्तरिक्षके।
सूर्य्यो दिवीति विज्ञेयास्तिस्र एवेह देवताः॥४॥
अर्चिभिः केश्ययं त्वग्निर्विद्युद्भिश्चैष मध्यमः।
असौ तु रश्मिभिः केशी तेनैनानाह केशिनः॥५॥
एतासामेव माहात्म्यान्नामान्यत्वं विधीयते।
तत्तत्स्थानविभागेन तत्र तत्रेह दृश्यते॥६॥

यही देवताओं का सामान्य परिचय है। सामान्यरूप से इस लघुनिबन्ध में ऋषि, छन्द व देवता, जो कि मन्त्रार्थपरिज्ञान के लिए आवश्यक हैं, का स्वरूप बतलाया गया है। विस्तारभय से अधिक विवेचन यहाँ सम्भव नहीं है। अधिक जिज्ञासुओं को यास्क-प्रणीत निरुक्त, शौनकप्रणीत वृहद्देवता तथा विद्यावाचस्पति श्री मधुसूदन ओझा प्रणीत 'आधिदैविक रहस्य' का अवलोकन करना चाहिए॥ इतिशम्॥

# उत्तर-दक्षिण की सनातन एकता

फतहसिंह

[ स्वाहा के पिछले अंक में सिन्धु-मुद्रालेखों का अध्ययन प्रस्तुत करते हुए, यह कहा गया है कि कुछ मुद्रालेखों से ऐसा प्रतीत होता है कि हिन्दमहासागर से लेकर हिमालय-पर्यन्त भारत का सांस्कृतिक एकीकरण उस समय हो चुका था। इस संकेत से हमारे बहुत से विद्वान् चौंक पड़े और बिना कोई प्रमाण दिये हुए कहने लगे—'मैं तो यह नहीं मान सकता, यह असम्भव है।' इन विद्वानों के भ्रम-निवारणार्थं यहाँ कुछ ऐसे प्रमाण दिये जा रहे हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि वैदिक-काल से ही समुद्रपर्यन्त भारत, कम से कम, सांस्कृतिक दृष्टि से एक था। जो विद्वान् इस से असहमत हुए, वे कृपया इन प्रमाणों को झूठा सिद्ध करके ही अपनी असहमति प्रकट करें, अन्यथा इन प्रमाणों के आधार पर अपने मत को बदलें। मैं यह जानता हूँ कि अंग्रेजी की 'अन्तर्राष्ट्रीय खिड़की' से जो प्रकाश हमारे पास आया है और आ रहा है उसने हमें यही कहने को विवश किया है कि 'भारत के एकीकरण का श्रेय अंग्रेजी राज्य और अंग्रेजी भाषा को है', परन्तु भारतीय वाङ्मय का जो 'राष्ट्रीय द्वार' है उससे प्राप्त प्रकाश हमें जो दिखला रहा है उससे स्पष्ट है कि अंग्रेजों के आगमन से पूर्व भारत में अनेक राज्य, अनेक भाषा, अनेक धर्म, अनेक रंग तथा अनेक रस्म-रिवाजों के होते हुए भी, एक अद्भुत सांस्कृतिक एकता तथा अपूर्व सांस्कृतिक राष्ट्रीयता थी, जिसे विदेशी राज्य ने जानबूझ कर अनेक प्रकार से नष्ट करने का प्रयत्न किया। दुःख की बात है कि इस विदेशी प्रयत्न में बहुत से भारतीय विद्वान् भी जाने या अनजाने योग देते रहे हैं और विदेशियों की सम्मति को 'ब्रह्मवाक्य' मानकर साभिमान प्रचारित करते रहे हैं।—लेखक ]

### उत्तर-दक्षिण की सनातन एकता

हमारी भारतभूमि के भौगोलिक परिवेश का सनातन इतिहास सौभाग्यवश चिरन्तनकाल से सुरक्षित है। राष्ट्र और भूमि का अटूट सम्बन्ध है, अतः इस देश के प्राचीनतम साहित्य में भी उसके गीत गाये गये हैं। ऋग्वेद के अनुसार हमारी राष्ट्रभूमि विस्तृत (उर्वी ६, ४७, २०), सर्वदा शरण देने वाली (१, २२, १५; १०, १८, १२) माता है और मनुष्य उसका पुत्र[1] है। वह बहुत

---

१. मातरं भूमिं (१०, १८, १०) माता पुत्रं यथा (१०, १८, ११)।

दूर तक फैली (पृथु) है (पप्रथत् २, १५, १); इसीलिए उसका नाम[1] पृथिवी है। वह दृढ (ऋ० ५, ८४, ३) और अच्युत (ऋ० ८, २०, ५) होते हुए भी गतिशील ( विचारिणि[2] ) है। उसमें बड़ी-बड़ी ऊँचाइयाँ हैं और वह अनेक पर्वतों के भार को वहन करती है, तथा वनस्पतियों को धारण करती है (ऋ० ५, ८४, १-३)। उसका अपना आकाश (द्यु) और अपने मेघ तथा विद्युत् हैं जिनसे खूब वर्षा (वृष्टयः) होती है।[3] राष्ट्रभूमि का अपने आकाश के साथ जो नित्य सम्बन्ध माना गया है, उसी से द्यौ (आकाश) को पिता तथा पृथिवी को माता कहा गया है[4] और दोनों को प्रायः संयुक्त रूप में द्यावापृथिवी कहकर वैदिक साहित्य में स्मरण किया जाता है। आकाश एवं पृथिवी की यह घनिष्ठता होने पर, दोनों के बीच का अन्तरिक्ष स्वतः ही राष्ट्रभूमि का हो जाता है, अतः ऋग्वेद का कम से कम एक मन्त्र ऐसा है जिसमें पृथिवी तथा अन्तरिक्ष को एक साथ सम्बोधित करके एक से पार्थिव दुःखों तथा दूसरे से आकाश के दुःखों से रक्षा करने की प्रार्थना की गई है।[5]

## अथर्ववेद में राष्ट्रभूमि

अथर्ववेद में एक सुन्दर और सुविशाल सूक्त (१२, १) राष्ट्रभूमि की स्तुति में लिखा गया है[6] जिसकी विस्तृत व्याख्या श्री सातवलेकर तथा स्व. डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल[7] अपने-अपने ग्रंथों में कर चुके हैं और जिसके अविकल अनुवाद विश्व की कई भाषाओं में प्रकाशित हो चुके हैं। इस सूक्त के अनुसार राष्ट्रभूमि के दो रूप हैं, एक भौतिक तथा दूसरा आध्यात्मिक। भौतिक रूप में, वह भूत और भव्य की स्वामिनी है; उसके ऊँचे, नीचे और समस्थल मानवों के लिए असंबाध रूप से प्राप्त हैं; उसमें नाना प्रकार की शक्तियों से युक्त

---

१. तै० सं० ७, १, ५; तै० ब्रा० (१, १, ३, ५); मैक्डानल, वै० मॉ० पृ० ८८; फतहसिंह वै० ए० पृ० १६२

२. स्तोमास्त्वा विचारिणिप्रतिष्टोभन्त्यक्तुभिः (ऋ० ५, ८४, २)

३. यत् ते अभ्रस्य विद्युतो दिवो वर्षन्ति वृष्टयः (ऋ० ५, ८४, ३)

४. द्यौष्पितः पृथिवि मातः (ऋ० ६, ५१, ५)

५. पृथिवी नः पार्थिवात्पात्वंहसो अंतरिक्षं दिव्यात् पात्वस्मान् (ऋ० ७, १०४, २३)

६. देखिये, श्रीसातवलेकरकृत 'अथर्ववेद का सुबोधभाष्य'

७. डा० अग्रवालकृत 'भारत की मौलिक एकता'।

(नानावीर्या) औषधियाँ, समुद्र, सिन्धु, आपः (जल), अन्न, कृष्टियां (जोतें) तथा गायों, अश्वों, पक्षियों आदि के समूह हैं; वह विश्वम्भरा तथा वसुन्धरा (वसुधानी) है और अपने वक्षःस्थल में सोने को रक्खे हुए है; इस भूमि, पृथिवी की देवता लोग बिना सोये हुए, बिना किसी प्रमाद के निरंतर रक्षा करते हैं और हम इससे 'प्रियमधु' दुहते हैं तथा यह हमें वर्चस् प्रदान करती है।[1] दूसरे रूप में वह केवल मनीषियों के लिए 'माया' द्वारा प्राप्य है, उसका हृदय अमृत है जो 'परम व्योम' में सत्य द्वारा ढका है; यह पृथिवी उत्तम राष्ट्र (राष्ट्रे... उत्तमे) में तेज (त्विषि) और बल स्थापित करती है।[2] जो 'ऊर्जस्' इसके शरीर अन्तरिक्ष (मध्यं) या आकाश (नभ्यं) से प्रादुर्भूत होता है वह सब इसी माता की देन है, जिसे प्राप्त करके उसका पुत्र 'माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः' की अनुभूति से प्रफुल्ल होता है। इसका जनसमूह[3] बहुभाषी (बहुधा विवाचसं) तथा बहुधर्मा है; इसकी अनेक सड़कें (पन्थानः) लोगों से भरी हुई (जनायनाः) तथा अनेक रथ-मार्ग[4] चलने के लिए हैं, जिन पर भले-बुरे (भद्रपापाः) दोनों ही चलते हैं।

## राष्ट्रभूमि की पहचान

वेदों में वर्णित राष्ट्रभूमि के भौतिक परिवेश का कई विद्वानों ने अध्ययन किया है। ऋग्वेद में प्रायः सप्तसिन्धुओं का उल्लेख मिलता है, जिनको सायणाचार्य गंगा, यमुना, सरस्वती, सतलज, रावी, व्यास और आर्जिकीया मानते हैं, परन्तु आधुनिक विद्वानों का मत है कि इन सात नदियों में पंजाब की प्रसिद्ध पाँच नदियों के अतिरिक्त सिन्धु तथा अफगानिस्तान की कुभा नदी को सम्मिलित किया जाना चाहिये। इसी दृष्टि से आजकल प्रायः यही माना जाता है कि ऋग्वैदिक काल के भारतीय हिन्दुकुश पर्वत से लेकर हिमालय पर्वत के सहारे-सहारे गंगा की घाटी तक रहते थे। परन्तु ये विद्वान् इस बात को भूल जाते हैं कि ऋग्वेद में समुद्र तथा उसके कई पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग हुआ

---

१. सा नो मधुप्रियं दुहामथो उक्षतु वर्चसा। (७)

२. सा नो भूमिस्त्विषि बलं राष्ट्रे दधातूत्तमे। (८)

३. जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम् (४५)

४. ये ते पन्थानो बहवो जनायना रथस्य वर्त्मानश्च यातवे।
यैः संचरन्ति उभये भद्रपापास्तं पन्थानं जयेम (४७)

है, जो इस बात को सूचित करता है कि उस समय का भारत समुद्र-पर्यन्त था। मेकडोनिल[1] का कहना है कि ऋग्वेद के समय भारतीयों को समुद्र का ज्ञान नहीं था, क्यों कि वहाँ 'सिन्धु नदी के अनेकों मुहानों का उल्लेख नहीं है और न मछली मारने की ही चर्चा है। समुद्र-शब्द जिसका अर्थ जलसमूह है और जो कि बाद में नियमित रूप से सागर का पर्यायवाची है, वस्तुतः सिन्धुनदी के उस निचले भाग का नाम है जो कि पंजाब की नदियों का पानी ग्रहण करने के पश्चात् इतना चौड़ा हो गया है कि बीच धार में पड़ी हुई कोई नाव किनारे से नहीं दिखाई पड़ती'। यह मत किसी प्रकार भी स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्यों कि जैसा कि डा. वैद्य ने लिखा है कि 'ऋग्वेद में समुद्र के अतिरिक्त 'अर्णव' शब्द भी आता है, जिसका अर्थ सागर ही हो सकता है।' इसके अतिरिक्त ऋग्वेद में कम से कम १५८ मन्त्रों में समुद्र-शब्द का प्रयोग हुआ है और इससे भी अधिक स्थानों पर, उसके अन्य पर्यायवाची शब्दों का भी प्रयोग हुआ है।

इन सब प्रसंगों की सूक्ष्म परीक्षा करने पर पता चलता है कि ये सब के सब एकमात्र सिन्धुनदी की विस्तृत धार को नहीं सूचित कर सकते। ऋग्वेद[2] (१०, १३६,५) में जिन पूर्वी और पश्चिमी समुद्रों का उल्लेख है, वे सम्भवतः वही दो सागर हैं, जिन को आजकल अरब समुद्र और बंगाल की खाड़ी कहा जाता है। इन्हीं दोनों समुद्रों में से, सिन्धु-नदी तथा सिन्धु-प्रदेश के कारण, एक को सिन्धु तथा दूसरे को समुद्र भी कहा जाता था; यही कारण है कि सिन्धु और समुद्र दोनों का एक साथ उल्लेख भी प्रायः (ऋ० ६, ८५, १०; अ० १२, १, २; १०, ४) हुआ है और अथर्ववेद में सिन्धु तथा परावत से आने वाली दो हवाओं (द्वाविमौ वातौ) से अभिप्राय संभवतः दोनों सागरों की मानसून से है। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद में एक नहीं अपितु अनेक ऐसे समुद्रों (समुद्राणि) का उल्लेख[3] है जिनमें नदियां गिरतीं थीं। ये अनेक समुद्र एकमात्र सिन्धुनदी के मुहाने के रूप में नहीं समझे जा सकते; ये निःसंदेह आधुनिक भारत के तट पर लहराने वाले समुद्र के वे अनेक भाग ही प्रतीत होते हैं, जिनमें इस भूमि की सिन्धु सहित अनेक नदियां अपना-अपना पानी आज तक निरन्तर ले जा रही हैं और जिनको लक्ष्य करके एक दूसरे स्थान पर ऋग्वेद में ही कहा गया है

---

१. हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर पृ० १४३

२. उभौ समुद्रौ वा क्षेति यश्च पूर्व उतापरः।

३. नदीनां समुद्राणि पपृथुः पुरूणि (ऋग्वेद ६, ७२, ३)

कि वस्तुतः यह एक ही समुद्र है जिसको उसे सिञ्चन करने वाले अनेक भूखण्ड (अवनयः[1]) भी जल से पूरा नहीं भर पाते[2]। अनेक समुद्रों की इस समष्टि का उल्लेख उस समय भी अभीष्ट है, जब हिमवान् के साथ पृथ्वी-समेत एक समुद्र भी प्रजापति की महिमा का प्रतीक समझा गया है (ऋ० १०,१२१,५); इसी प्रकार जब सभी नदियों को सिंधुवली कहा जाता है (अ० ६, २४, १) तो भी सिन्धु शब्द से भी यही एक महा-समुद्र अभिप्रेत प्रतीत होता है। हिमवान् से निकलकर नदियां जिसमें सिन्धु में अपना 'समूहसंगम' (सामूहिक मिलन) करती हैं, वह भी (अ० ६, २४, १) संभवतः यही महासागर है।

समुद्र अथवा समुद्रों में गिरने वाली जिन अनेक नदियों का उल्लेख ऋग्वेद में हुआ है, उन पर विचार करने से भी यही पता चलता है कि अनेक रूपों में कहा जाने वाला यह एक समुद्र वस्तुतः वही महासमुद्र है जिसे हम आज हिन्द महासागर कहते हैं। ऋग्वेद में सब नदियों को दो वर्गों में बाँटा गया है, जिनमें से एक की नदियों को 'सिन्धवः' और दूसरे की सरिताओं को 'इरावतीः'[3] कहा जाता था। ऋग्वेद में उल्लिखित इरावती को प्रायः[4] उत्तरप्रदेश की राप्ती नदी माना जाता है, परन्तु जब इस शब्द का प्रयोग बहुवचन में किया जाता है तो निःसंदेह इस नदी के अतिरिक्त इस नाम की अन्य नदियों को भी ढूंढना पड़ेगा। इरावती नाम की एक नदी आज भी आधुनिक ब्रह्मदेश (बर्मा) में वर्तमान है और इस प्रदेश का संस्कृत नाम तथा उसके उत्तर में स्थित नदी का नाम ब्रह्मपुत्र (जो वहाँ की ब्रम्म या बर्मी जाति से सम्बन्धित प्रतीत होता है) भी इस बात का संकेत दे रहे हैं कि वह प्रदेश वैदिक-संस्कृति के सम्पर्क में बहुत पहिले ही आ चुका था। इस प्रसंग में यह भी उल्लेखनीय है कि ब्रह्मदेश का सम्बन्ध सिन्धुघाटी[5] सभ्यता से बराबर स्वीकार किया जाता है और वाल्मीकि-रामायण में इस देश की चाँदी की खानों का उल्लेख हुआ है तथा बर्मी इतिहास के अनुसार इरावती नदी के किनारे गौतम बुद्ध से पूर्व ही ३२ पीढ़ियों तक कपिलवस्तु का शाक्य-वंश वहाँ राज्य कर चुका था[6]।

---

१. सायण के अनुसार यहाँ 'अवनी' शब्द नदी का द्योतक है।
२. एकं यदुन्दा न पृणन्त्येनीरासिञ्चन्तीरवनयः समुद्रम् (५, ८५, ६)
३. इरावतीर्वरुणधेनवो वां मधुमद्वां सिन्धवो मित्र दुह्रे (ऋ० ५, ६९, २)
४. डा० वासुदेवशरण, भारत की मौलिक एकता पृ० ३१ टि०।
५. गोल्डन चाइल्ड न्यू लाइट ऑन दी मोस्ट एनस्यंट, पृ० २२४
६. दी कल्चरल् हिस्ट्री ऑव इंडिया १, पृ० १५८

अतः यह मानना अनुचित न होगा कि ऋग्वेद-काल में उन सभी नदियों को 'इरावतीः' बहुवचन कह कर पुकारा जाता था जो आधुनिक 'राप्ती' से लेकर ब्रह्मदेश की 'इरावती' नदी के प्रदेश में आती थी। इसके विपरीत निःसन्देह पश्चिमीय समुद्र (सिन्धु) में मिलने वाली सिन्धु, नर्मदा आदि नदियों को 'सिन्धवः' (बहुवचन) नाम दिया जाता होगा। ऋ० १०, ११५, ८ में इस पश्चिमीय सागर को भरने वाली सात 'देवीः आपः' के साथ-साथ ही दूसरे वर्ग की ९९ नदियाँ बतायी गयी हैं। अतः सिन्धुनदी से लेकर ब्रह्मा की 'इरावती' नदी तक के भारतवर्ष की अनेक नदियाँ जिस समुद्र को निरन्तर भरने का प्रयत्न करके भी नहीं भर पाती थीं, वह एक समुद्र आजकल का हिन्द महासागर ही होगा। इस बात का एक प्रबल प्रमाण यह भी है कि ऋग्वेद समुद्र से भी परिचित है, जो इस देश में होने वाली वर्षा का स्रोत था। ऋग्वेद[1] (५, ५५, ५) में अन्तरिक्षस्थित मरुतों से प्रार्थना की गयी है कि वे समुद्र से लेकर वर्षा करें। अथर्ववेद[2] में स्पष्ट लिखा है कि मरुत जल को समुद्र से आकाश में ले जाते हैं और आकाश पृथिवी में चारों ओर बिखेरते हैं। अतः स्पष्ट है कि यह समुद्र सिन्धु नदी न होकर हिन्द महासागर ही माना जाएगा क्योंकि अनेकता में एकता को खोजने वाली भारतीय-दृष्टि के लिए यह स्वाभाविक ही था कि वह विभिन्न नदियां जिन-जिन सागरों में गिरती थीं उनके समष्टिरूप हिन्द महासागर को पहचानता। इसी दृष्टि से जब यह देखा गया कि समुद्र का ही जल वर्षा द्वारा पर्वतों के नदी-नालों में बहता है तो एक ऐसी समष्टि की कल्पना की गयी जिसमें समुद्र एवं पर्वतों से प्राप्त होने वाले समस्त जल का समावेश किया गया और कहा गया कि समुद्र से तथा पर्वतों से निकलने वाली सभी नदियों में वस्तुतः एक ही नदी सरस्वती है (ऋ० ७, ९५, २)।

वैदिक-भारत की सीमा को विन्ध्याचल के पार सुदूर दक्षिण में समुद्र तक ले जाने के ये संकेत विद्वानों को संभवतः कुछ अटपटे लगेंगे, परन्तु वैदिक राष्ट्रभूमि के वर्णन में पर्वतों और गिरियों का उल्लेख भी यही संकेत करता है। ऋग्वेद[3] (८, ७ ३४) से स्पष्ट प्रतीत होता है कि गिरि और पर्वत दोनों का अर्थ भिन्न-भिन्न है और इसकी पुष्टि अथर्ववेद[4] के पृथ्वीसूक्त से

---

१. उदीरयथ मरुतः समुद्रतो यूयं वृष्टिं वर्षयथ पुरीषिणः।
२. अपः समुद्राद दिवमुद्वहन्ति दिवस्पृथिवीमभि ये सृजन्ति (अ० वे० ६, २७, ४)
३. गिरयश्चिन्नि जिहते पर्शानासो मन्यमानाः पर्वताश्चिन्नि येमिरे।
४. गिरयस्ते पर्वता हिमवन्तोरण्यं ते पृथिवि स्योनमस्तु। बभ्रुं कृष्णां रोहिणीं विश्वरूपां ध्रुवां भूमिं पृथिवीमिन्द्रगुप्तां। अजीतोहतो अक्षतो ध्यष्ठां पृथिवीमहम्। १२.१.११

भी होती है जिसमें गिरियों के साथ हिमाच्छादित पर्वतों का भी उल्लेख है। पुराणों और महाभारत में भारत के पहाड़ों को वर्ष[1]-पर्वत और कुल[2]-पर्वत नाम से दो भेद किए गए हैं, जिनमें से प्रथम वर्ग में हिमवान्, हेमकूट, निषध, मेरु, चैत्र, करणी और शृंगवान् वर्तमान हिमालय के ही विविध भाग प्रतीत होते हैं और दूसरे वर्ग के महेन्द्र, मलय, सह्य, शुक्तिमान्, ऋक्ष, विन्ध्य और पारियात्र से अभिप्राय प्रायः दक्षिण भारत के पहाड़ों से लिया जाता है। पर्वत और गिरि नाम से जो दो प्रकार के पहाड़ ऋग्वेद में उल्लिखित हैं उनका भी यही अर्थ प्रतीत होता है। ऋग्वेद में इक्कीस गिरियों की संहिता के साथ एक पठार (सानु) का जो वर्णन मिलता है उससे यही लगता है कि वे भारत के दक्षिणी पठार[3] से सम्बद्ध पहाड़ ही होंगे ; इनको पठार-सहित इन्द्र ने अपने अस्त्र से अत्यधिक बेध दिया (अतिविद्धा) है ; इनमें[4] इंद्र के निमित्त से सुशब्द करती हुई (सुवाचः) तथा चमकती नदियाँ (उषासः ऊर्म्याः) अपने अंधेरे याम (नक्तं यामं) को बाढ़ के कारण पार कर जाती हैं; उसी के निमित्त से, सिन्धु में गिरने वाली सात नदियाँ (सप्त सिन्धवः)[5] सात आपः मातायें मनुष्यों के लिये, 'सुपारा' हो जाती हैं। स्पष्ट है कि यहाँ पर उन बरसाती नदियों से अभिप्राय है जो वर्षा होने पर उफनाने लगती हैं और वर्षा रुक जाने पर कुछ देर में पार करने योग्य होजाती हैं। सम्भवतः ऐसी ही नदी को ऋग्वेद में मरुद्वृधा (१, १६८, ८) तथा बरसाती पानी को

---

१. हिमवान् हेमकूटश्च, निषधो मेरुरेव च। चैत्रः करणी च शृंगी च सप्तैते वर्षपर्वताः।
(महाभारत भीष्मपर्व ६, १०)

२. महेन्द्रो मलयः सह्यः शुक्तिमान् ऋक्षपर्वतः। विन्ध्यश्च पारियात्रश्च सप्तैते कुलपर्वताः
(वही, ६, ११)

३. अतिविद्धा विथुरेणा चिदस्त्रा त्रिः सप्त सानुसंहिता गिरीणाम् (ऋ० ८, ९. ६, २)।

४. अस्मा उषास आतिरन्त यामर्मिन्द्राय नक्तमूर्म्याः सुवाचः।
अस्मा आपो मातरः सप्त तस्थुर्नृभ्यस्तराय सिन्धवः सुपाराः॥
(ऋ० ८, ९६, १)

५. जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, ऋग्वेद में अरबसागर और अवशिष्ट हिन्दमहासागर को क्रमशः सिन्धु तथा समुद्र नाम दिया गया है ; अत एव सिन्धु में गिरने वाली नदियों को सिन्धवः तथा समुद्र में गिरने वाली नदियों को समुद्रियाणि नाम दिया गया प्रतीत होता है।

मरुत्वतीः आपः (१, ८०, ४) कहा गया है। इन सात नदियों के अतिरिक्त[1] सिन्धु (आधुनिक अरबसागर) को वृद्धि प्रदान करने वाली सात नदियाँ और प्रतीत होती हैं जिन्हें 'आपः देवीः' तथा अहिंसिता (अमृक्ताः) कहा गया है; स्पष्टतः ये नदियाँ मुख्यतः हिमालय से निकलने वाली प्रतीत होती हैं; इन 'सप्त आपः देवीः' में नर्मदा तथा ताप्ती का भी समावेश होता था।

दक्षिण भारत की गिरिश्रेणियाँ तथा उनकी उपत्यकाएँ और अधित्यकाएँ घने वनों और लम्बे वृक्षों के लिए रामायण-काल में भी प्रसिद्ध थीं, अतः उससे पूर्व वैदिक-काल में भी यही हाल होना स्वाभाविक है। ऋग्वेद में जिस प्रकार 'हिमवन्तः'[2] उत्तरीय पर्वतों की विशेषता प्रकट करता है, उसी प्रकार 'वृक्ष-केशाः'[3] विशेषण दक्षिणी भारत की गिरिश्रेणियों के लिए सार्थक है। वृद्धि प्राप्त करते हुए, विद्युद्युक्त मरुद्गण के साथ स्पर्धा करने वाले उग्र गिरियों का उल्लेख[4] बरसाती मानसून से टक्कर लेने वाले पश्चिमी घाट की याद दिलाते हैं, तो हिम द्वारा मुषित हुये पत्तों वाले वन हिमालय की पर्वत-श्रेणियों का चित्र उपस्थित[5] करते हैं। पत्तों वाले सोम महिष (महिषस्य पर्णिनः) के पिता पर्जन्य जिन गिरिश्रेणियों (गिरिषु) में अपना निवास-स्थान रखते हैं वे पृथिवी (राष्ट्रभूमि) के केन्द्र नाभा में स्थित[6] होने से निस्संदेह विंध्य और उसके आस-पास के पर्वत ही हो सकते हैं। गिरिशृंग पर स्थित जिस बैल (६, ६४, १२) भैंसे (६,६५, ४) अथवा मारुतगणरूपी वृष (८, ६४, १२), का उल्लेख ऋग्वेद में है, वह यदि कालिदास के आश्लिष्टसानु मेघ का आधार सा प्रतीत होता है; तो समुद्र में वृद्धि को प्राप्त होने वाला और सिन्धु की ऊनी छलनी से छनने वाला 'द्रप्स'[7] आधुनिक सिन्धु-प्रदेश में होने वाली अल्पवृष्टि

---

१. सप्तापो देवीः सुरणाः अमृक्ता याभिः सिन्धुमतर इन्द्र पूर्भिद्।
नवतिं स्रोत्या नव च स्रवन्तीर्देवेभ्यो गातुं मनुषे च विन्दः॥ (ऋ०वे० १०,१०५,८)

२. यस्य इमे हिमवन्तः महित्वा यस्य समुद्रं रसया सहाहुः (१०, १२, ५)

३. गिरयो वृक्षकेशाः (५, ४१, ११)

४. तं वृधन्तं मारुतं भ्राजदृष्टिं रुद्रस्य सूनुं हवसा विवासे।
दिवः शर्धाय शुचयो मनीषा गिरयो नाप उग्रा अस्पृध्रन्॥

५. हिमेव पर्णा मुषिता वनानि (ऋ० १०, ६८, १०)

६. पर्जन्यः पिता महिषस्य पर्णिनो नाभा पृथिव्या गिरिषु क्षयं दधे। (ऋ० ९, ८२, ३)

७. अप्सु द्रप्सं वावृधानं समुद्र आसिन्धोरूर्मा मधुमन्तं पवित्रे। (९, ८५, १०)

की ओर संकेत कर रहा है। एक स्थान[1] पर बादलों को अपने बल को धारण करने वाले (स्वतवसः), शीघ्रगामी गिरियों से उपमा दी गई है और उन्हें विभिन्नवर्णा (चित्रभानवः) मायावी महिष या हाथी बताया गया है जो वनों को मृगों के समान चरते हुये एक विरोधाभास उपस्थित करते हैं। बम्बई से वायुयान द्वारा यात्रा करते हुये आज भी देखा जा सकता है कि किस प्रकार काले-काले पर्वतोपम बादल महिष, हस्ती आदि के रूपों को धारण करते हुये वनों को चुप-चाप मृगों के समान चरते हुये प्रतीत होते हैं, तोड़-फोड़ करने वाले हाथियों की तरह नहीं। इसी प्रकार समतल भूमि के वनों को 'पृथिवी की रोमावलियाँ (रोमा पृथिव्याः)[2] झरनों को गिरि से गिरी हुई लहरियाँ (गिरिभ्रजो नो ऊर्मयः)[3] वर्षा को गिरियों से निःसृत 'पका हुआ भात'[4] आदि कहकर ऋग्वेद ऐसे अनेक चित्र उपस्थित करता है जो हमारी दक्षिणी राष्ट्रभूमि के परिवेश का सहज ही स्मृति-पथ पर ले आते हैं।

## मरुद्गण या मूरुगन

दक्षिण-भारत का वैदिकयुग से घनिष्ठ सम्बन्ध प्रकट करने वाला मूरुगण देवता आज भी वैदिक मरुद्गण की याद दिलाता है। मूरुगण तथा मरुद्गण के नामों में केवल ध्वनि-साम्य ही नहीं, अपितु दोनों की मुख्य विशेषताओं में भी साम्य देखा जा सकता है। मूरुगण लाल[5] अग्निवर्ण है और वैदिक मरुद्गण को प्रायः अग्नि के समान (२, ३४, १, १०, ७८, १), अग्निरूप (१०, ८४, १), अग्निश्रिय (३, २६, ५), अरुणप्सव (८, ७, ७) तथा अग्निजिह्वा के समान चमकने वाले (१०, ७८, ३) कहा जाता है। मूरुगण वृक्षों से ढकी ऊँची पहाड़ियों पर स्थित कहा जाता[6] है, तो मरुद्गण भी गिरियों में रहने वाले हैं और उनका 'गिरिस्था' (८, ८३, १–३) विशेषण बहुत प्रसिद्ध है तथा

---

१. महिषासो मायिनश्चित्रभानवो गिरयो न स्वतवसो रघुष्यदः।
मृगा इव हस्तिनः खादना वथा यदारुणीषु तविषीरयुग्ध्वम्॥
(ऋ० १, ६४, ७)

२. यद्वातजूतो वना व्यस्थादग्निर्हदाति रोमा पृथिव्याः। (ऋ० १, ६५, ४)

३. गिरिभ्रजो नोर्मयः (ऋ० १०, ६८, १)

४. निराविध्यद्गिरिभ्यः आधारयत् पक्वमोदनम्। इन्द्रो बुन्दं स्वाततम्। (ऋ० ८, ७८, ६)

५. डा. कार्मार्करकृत—दी व्रात्य सिस्टम्स आव रिलीजन, पृ० १३१

६. वही।

उनसे संवन्धित गिरियों को 'वृक्षकेशाः' कहा गया[1] है। तोलकप्पियम् में मूरुगण जिस पहाड़ी क्षेत्र का अधिपति माना गया है उसे 'कुरञ्जी', उसके साथ नृत्य करने वाली गिरिबालाओं को 'कुरव'[3] तथा उसके नृत्य को 'कुरवइ'[4] बताया गया है। स्पष्टतः उक्त तीनों तामिल शब्दों में 'कुर' भाग संस्कृत 'गिरि' शब्द का रूपांतर है और वैदिक मरुतों के साथ 'गिरि' के अतिरिक्त 'अंजी' शब्द भी विशेष सम्वन्ध रखता है, क्योंकि ऋग्वेद में 'अंजिमन्तः' विशेषण एकमात्र मरुतों के लिए ही प्रयुक्त होता है; अतः मूरुगण से सम्वन्धित 'कुरुञ्जी' शब्द 'गिरि' तथा 'अञ्जी'[5] के मिलने से वना प्रतीत होता है। ऋग्वेद में किन्हीं धूल उठाने वाले नाचते हुए से (नृत्यतामिव) देवों को यदि मरुत न भी माना जाय, तो भी अन्यत्र स्पष्टतः मरुतों को क्रीड़ा करने वाले, शिशुओं से शुभ्र तथा वत्सों अथवा शिशुओं के समान खेलकूद करने वाले तथा भालाधारी (ऋष्टिमन्त) होकर एक साथ मिलकर (सध्र्यंचः) आपः देवियों के समान क्रीड़ा करने वाले वताया गया[6] है। वे वर (दूल्हा) के समान अपने को अलंकृत करते हैं और तामिल 'मूरुगण' के समान ही वालाओं (१०, ८६, ९; ७, ९६, २; ३९, ५; ५, ५६, ८; ६, ६६, ६; १, १६७, ४–५) से संवंध रखते हैं तथा इसीलिए उन्हें 'भद्रजामयाः'[7] (सुन्दर स्त्रियों वाले) कहा जाता है। तामिल मूरुगण के समान वैदिक मरुद्गण भी वीर (१. ६४, ४; १२२, १; ५, ५४, १०) हैं और सेनानी-शब्द का प्रयोग (७, २०, ५; ९, ९६, १; १०, ३४, १२; ८४, २) जब एक महान् गण अथवा व्रात' के राजा के लिए होता है, तो निस्संदेह अनेक मरुतों में एकता की खोज का यह वही प्रयत्न प्रतीत होता है जो आगे चल कर मूरुगण को सेनानी कार्तिकेय (स्कन्द) के रूप में स्थापित करता है। मरुद्गण या मूरुगण

---

१. गिरयो वृक्षकेशाः (ऋ० ५, ४१, ११)

२. डॉ. कार्मार्कर, वही

३. वही।

४. क्रीळन्ति क्रीळा विदथेषु घृष्वयः (ऋ० १, १६६, २)
शिशूला न क्रीळयः (१०,७८,६); शिशवो न शुभ्राः वत्सासो न प्रक्रीळिन (७, ५६, १६

५. पुरुद्रप्सा अञ्जिमन्तः सुदानवः (५, ५७, ५), श्रिये मर्यास अञ्जीँरकृण्वत सु मारुतं (१०, ७७, २)

६. यत् क्रीडथ मरुत ऋष्टिमन्तः आप इव सध्र्यञ्चो धवध्वे (५, ६०, ३)

७. परा वीरासः एतन मर्यासो भद्रजामयः (५, ६१, ४)

और सेनानी स्कन्द का समीकरण नितान्त स्वाभाविक है, क्योंकि स्कन्द के समान वैदिक मरुद्गण भी रुद्र के पुत्र (ऋ० १, ११४, ६–९; २, ३३, १) कहे गए हैं और स्कन्द के समान इनकी उत्पत्ति भी अग्नि[1] (१, ७१, ८; ६, ३,६) से स्वीकार की गई है। तामिल मूरुगण से सम्बन्धित पक्षी मयूर[2] न केवल पौराणिक स्कन्द का वाहन है, अपितु वैदिक मरुद्गण के 'हंसासः नीलपृष्ठा'[3] में देखे जा सकते हैं; मरुतों का विशेषण 'पृषदाश्व'[4] (धब्बों या छींटदार अश्व वाला), उसके धब्बेदार रथवाहक (पृषतीः)[5] तथा 'हंसासः नीलपृष्ठाः' मूलतः प्रकृति के क्षेत्र में रंग-बिरंगे बादल हैं जो पक्षियों में 'मयूर' के रूप में माने गए प्रतीत होते हैं।

## तामिल और पाली साहित्य का प्रमाण

हमारी राष्ट्रभूमि के इस वैदिक स्वरूप का संकेत प्राचीनतम तामिल साहित्य में भी देखा जा सकता है। तोलकप्पियम के अनुसार हमारी भूमि मुल्लइ (वन-भाग), कुरुञ्जी (गिरि-भाग), मारुद्रम (जल-भाग), तथा नेदल (कृषि-भाग) नामक चार भार भागों में थी, जिनके अधिष्ठाता क्रमशः मायोन (विष्णु=कृष्ण), शेयोन (सुब्रह्मण्य या मूरुगन), वरुण तथा इन्द्र (वेंदन) समझे जाते थे[6]। डा० कृष्णस्वामी आयंगर[7] ने प्राचीन संगम साहित्य के प्रमाण देकर बतलाया है कि प्राचीन तामिल परम्परा में राष्ट्रभूमि को चेरा, पांड्या से लेकर हिमालय तक माना जाता था और राष्ट्रभूमि से जिन देवों का सम्बन्ध था, उनमें विष्णु, रुद्र, सुब्रह्मण्य, इन्द्र आदि वैदिक देवताओं का भी उल्लेख[8] है। शीलप्पाधिकारम्[9] ने प्राचीन कावेरीपत्तनम् नामक नगर

---

१. स्कन्द की अग्नि से उत्पत्ति के लिये देखिये, रामायण १, ३७; महाभारत ३, २२८-२२९; वेङ्कटरमनय्या, रुद्र-शिव पृ० ७२-७४;
२. ऋ० कर्मारकर, पृ० १३१।
३. ऋ० ७, ५९, ७।
४. ऋ० ७, ४०, ३; १, ८९, ७; ५, ४२, १५; १, १८६, ८; २, ३४, ४; ३, २६, ६।
५. ऋ० १, ३९, ६ इत्यादि।
६. दी व्रात्य सिस्टम्स आव रिलीजन पृ० १३१।
७. सम कन्ट्रीब्यूशन्स आव साउथ इण्डिया टु इण्डियन कल्चर पृ० ५३।
८. वही पृ० ५४-५५।
९. वही पृ० ५५।

में शिव, सुब्रह्मण्य, विष्णु और इन्द्र के मंदिरों का उल्लेख किया है। 'अकित्तिजातक' के अनुसार अगस्त्य वाराणसी के पास से चलकर कावेरीपत्तन गये और वहाँ से चलकर कारद्वीप (जो कि अहिद्वीप भी कहा जाता था) में रहने लगे जहाँ उन्होंने भिक्षुक-रूप में आये इन्द्र को स्वयं भूखे रहकर भी अपना भोजन दे दिया। 'मणि-मेखलाइ'[1] नामक बौद्ध ग्रंथ में अगस्त्य को मलय-पर्वत का अनुपम तपस्वी बताया गया है जिसके कमंडलु से निकले हुए जल से कावेरी नदी बनी और उसके फलस्वरूप चम्पा नामक नगरी का नाम कावेरी-पत्तन हुआ। इसी ग्रंथ के अनुसार अगस्त्य ने परशुराम से भयभीत कांडम नामक राजा को शरण दी और एक दूसरे चोल राजा को एक अट्ठाईस दिवसीय इन्द्र-महोत्सव मनाने का आदेश दिया जिसको देखने के लिए कैलास आदि पर्वतों से सभी देव कावेरीपत्तन आ गये। उपर्युक्त शीलप्पाधिकारम्[2] नामक प्राचीन तामिल काव्य में सुरक्षित परम्परा के अनुसार इसी प्रकार के एक प्रसंग का निम्नलिखित[3] विवरण प्रस्तुत किया है—

'एक विद्याधर ने अपनी प्रियतमा के साथ रजताद्रि कैलास पर मदनोत्सव मनाया। उसी समय उसे ध्यान आया कि दक्षिण भारत की पुहार नामक राजधानी में इसी समय इन्द्रमह हो रहा है। उसने अपनी स्त्री से कहा—प्रिये चलो, पुहार का उत्सव देखें जहाँ महाभूतम् साक्षात् रूप में उस हवि का भक्षण करते हैं जो असुरों के बाणों से भयभीत इन्द्रपुरी की रक्षा करने वाले पुरुष-व्याघ्र मुचुकुन्द की सहायता करने के उपलक्ष में उसे दी जाती है। चलो, वहाँ उन पाँच मंडपों को भी देखेंगे जिनका वास्तु-सौन्दर्य अद्भुत है, जो इन्द्रप्रदत्त हैं, और जिन्हें अमरावती के रक्षक मुचुकुन्द के पूर्वजों ने पृथ्वी पर बनाया है।

अगस्त्य ने यह देखकर कि सहस्राक्ष इन्द्र के समक्ष उर्वशी के नृत्य में नारद की वीणा ठीक नहीं बज रही, शाप दिया—परिवादिनी के सौभाग्य का अन्त हो और पृथ्वी पर जन्म ले। उसी उर्वशी का अवतार माधवी है। चलो, पुहार में उसका नृत्य देखें।' यह कह कर अपनी प्रिया को हिमालय के शिखर, गंगा की धारा, उज्जयिनीपुरी, विन्ध्याटवी, तिरुपति पर्वत और सस्य-संपत्ति से

---

१. वही, पृ० ४६-५० ।

२. ६, पं० १, ४० ।

३. डा० वासुदेवशरण अग्रवाल कृत 'भारत की मौलिक एकता' पृ० १३३-१३४ से उद्धृत ।

भरी हुई कावेरी की उपकंठ-भूमि को दिखाता हुआ पुहार नगरी में आया। वहाँ उचित विधि से इन्द्र की पूजा करके उसने अपनी प्रियतमा को पुहार के दर्शन कराए और फिर उस प्राचीन संपन्न राजधानी में सुखकर महोत्सव देखा।'

इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि गौतमबुद्ध से पूर्व दक्षिण भारत वैदिक-संस्कृति का गढ़ था और उस समय वहाँ के लोग कन्याकुमारी से हिमालय तक के भूखण्ड को अपना ही देश मानते थे। तोलकप्पियम् के कुछ सूत्रों पर भाष्य करते हुए आवूर के मूलंकिळार नामक कवि की एक अति प्राचीन तामिल कविता को उद्धृत किया गया है जिसका उल्लेख करते हुये, डा० कृष्णस्वामी[1] आयंगर ने लिखा है कि यह कविता एक अब्राह्मण द्वारा कौणिन्यन नामक ब्राह्मण की प्रशंसा में लिखी गई है और इसके अनुसार कौणिन्यन का जन्म ऐसे ब्राह्मण-वंश में हुआ था जो समस्त वेद-वेदांगों में पारंगत था और जिसने वैदिक-धर्म के सत्य को इक्कीस प्रकार के श्रौत यज्ञों द्वारा अभिव्यक्त किया था। कवि इस वंश के ब्राह्मणों की प्रशंसा करते हुए आगे कहता है[2]—'आपका जन्म ऐसे कुल में हुआ है। आप मृगाजिन तथा यज्ञोपवीत धारण करते हैं। आपकी पतिव्रता धर्मपत्नियाँ ऐसी मणियों को धारण करती हैं जो महायज्ञों के ऋत्विजों की पत्नियों के योग्य हैं, वे परम सुन्दरी हैं और आपकी कुल मर्यादा के अनुसार आचरण करती हैं। आप चाहे वन में रहो या गांव में, वे विविध प्रकार की गायों की सेवा द्वारा घी को पानी की तरह बहा कर आपके आदेश का पालन करती हैं। उनकी सहायता से असंख्य यज्ञों को करके और समस्त पृथ्वी पर अपना यश-विस्तार करके आप यज्ञों की समाप्ति पर अभ्यागतों को वृहद् भोज देकर कीर्तिमान् होते हो। हमारी कामना है कि हम आपकी इस उच्च प्रतिष्ठा को देखने का सौभाग्य निरन्तर पाते रहें। अब मुझे उस स्थान को जाने की अनुमति मिले जहां उस कावेरी के दोनों किनारे उपवनों से भरे हुए हैं जो पश्चिमी घाटों पर घनगर्जन होते ही नवीन रूप धारण करके पृथ्वी का पोषण करती हैं। मैं खाने योग्य पदार्थों को खाकर और चढ़ने योग्य वाहनों पर चढ़ कर आपके दान का उपभोग करूँगा तथा आपकी दानशीलता के गुण गाऊंगा। आप पृथ्वी पर जहाँ भी रहो उत्तुंगशृंग हिमालय के समान ध्रुव रहो और स्वयं हिमालय के समान निरंतर वृष्टि करते रहो'। डा०

---

१. सम कन्ट्रीव्यूशंस आव साउथ इंडिया टू इंडियन कल्चर (पृ- ५१)
२. वही; पृ० ५२।

आयंगर[1] अपने ग्रंथ में संगम-साहित्य के ऐसे प्रसंगों का भी उल्लेख करते हैं जहाँ राजसूय यज्ञ करने वाले महान् चोल राजा तथा हिमालय तक राज्य-विस्तार रखने वाले चेर-वंशी राजा का प्रसंग आता है। प्राचीन तामिल साहित्य में हिमालय के इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि गौतम बुद्ध से पूर्व ही चोल और चेर-वंशों का प्रदेश हिमालय को भी उसी राष्ट्र-भूमि का अंग समझता था जिसका कि वह स्वयं था।

पाली के 'दीर्घनिकाय' नामक ग्रंथ के महागोविन्द सुत्त के निम्नलिखित उद्धरण से भी यही बात सिद्ध होती है—'को नु खो भो पहोति इमं महा पठविं उत्तरेन आयतं[2] दक्खिणेन सकटमुखं सत्तधा समं सुविभक्तं विभजितुं ति। तत्र सुदं मज्झे रेणुस्स रञ्जो जनपदो होति। दन्तपुरं कलिंगानां अस्सकानां च पोतनं माहिस्सती अवन्तीनं सोवीरानञ्च रोरुकं। मिथिला च विदेहानं चम्पा अंगेषु मापिता। वाराणसी च कासीनं एते गोविन्द मापिता ति।'

इसके अनुसार हमारे राष्ट्र की महापृथ्वी का उत्तरी भाग पश्चिम से पूर्व आयाताकार है जिसके अन्तर्गत कलिंग, अश्मक, विदेह, अंग, अवन्ती, काशी तथा सौवीर नामक सात प्रदेश थे, और दक्षिणी भाग शकटमुख के समान निकला हुआ सा समुद्र के भीतर चला गया है। वराहमिहिर ने अपनी वृहत् संहिता में भारतवर्ष का संस्थान (अं० कनफ्युगरेशन) कूर्माकार बतलाया है जिसके[3] 'नौ भेद हैं, अर्थात् (१) मध्यभाग, (२) पूर्व दिशा में फैला हुआ मुख, (३) दक्षिण पूर्व दिशा में दाहिना पैर, (४) दाहिनी कुक्षि, (५) दक्षिण पश्चिम का पिछला पैर, (६) पुच्छ या पुट्ठों का भाग, (७) उत्तर-पश्चिम का उपरला पैर, (८) बाईं ओर की उपरली कुक्षि और (९) पूर्व दिशा का अगला पैर।' इस कूर्म संस्थान के प्रत्येक भाग में जो जनपद गिनाए गए हैं उनसे स्पष्ट पता चलता है कि समुद्र से लेकर हिमालय तक समस्त देश हमारी राष्ट्रभूमि के अन्तर्गत था। शक्तिसंगम तंत्र[4] में सुरक्षित सम्भवतः किसी उत्तर वैदिक-कालीन परम्परा के अनुसार देश के जो पांच भाग (जो वैदिक नाम प्रतीत होते हैं) बतलाए गए हैं वे क्रमशः इन्द्रप्रस्थ, यमप्रस्थ,

---

१. वही; पृ ०५३।

२. वहीं; पृ० ५३–५४।

३. देखिये डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल कृत, भारत की मौलिक एकता पृ० १६५

४. ३, ८।

वरुणप्रस्थ, कूर्मप्रस्थ तथा देवप्रस्थ हैं और इन प्रस्थों में भी कामाख्या (आसाम) से विलोचिस्तान की हिंगुलान तक और मानसरोवर से लेकर समस्त दक्षिणा पथ का समावेश होता प्रतीत होता है, क्योंकि इन पांचों भागों के अन्तर्गत आने वाले जिन ५६ देशों के नाम गिनाये गये हैं उनमें लंका से लेकर मक्का तक सैन्धव नामक समुद्रतटवर्ती पर्वतीय प्रदेश[1], रत्नाकर (बंगाल की खाड़ी) से लेकर ब्रह्मपुत्र नदी के अंतिम छोर तक बंग देश, कामरूप (आसाम), भूटान, नैपाल, काश्मीर, खुरासान तथा दक्षिण के केरल, कोंकण, कर्णाट, तैलंग तथा सिंहल का भी समावेश होता है। अपराजितपृच्छा[2]–नामक ग्रंथ के अनुसार वर्तमान लंका के त्रिकूट पर्वत से लेकर हिमालय तक का प्रदेश भारत है जिसमें पूर्वी और पश्चिमी समुद्रों तथा हिमदण्ड का समावेश[3] होता है।

## पौराणिक प्रमाण

सामान्यत: पुराणों में वर्णित भारतवर्ष भी यही है। मार्कण्डेय पुराण[4] के अनुसार इस देश के दक्षिण, पश्चिम और पूर्व में महासागर है जिसका लम्बा समुद्रतट झुके हुये धनुष के समान है; और उसके उत्तर में हिमालय पर्वत धनुष की डोरी के समान विद्यमान है। परन्तु यह देश तो उन नौ द्वीपों में से एक है जो उक्त पुराण के अनुसार भारतवर्ष के अन्तर्गत आते हैं; अतः स्पष्टीकरण करते हुये मार्कण्डेय पुराण आगे कहता है कि—

> हिमाद्रेः दक्षिणं वर्षं भरताय ददौ पिता।
> तस्माच्च भारतं वर्षं तस्य नाम्ना महात्मनः॥
>
> भारतस्यास्य वर्षस्य नवभेदान्निबोध मे।
> समुद्रान्तरिता ज्ञेयास्ते त्वगम्याः परस्परम्॥
>
> इन्द्रद्वीपः कसेरुश्च ताम्रवर्णो गभस्तिमान्।
> नागद्वीपस्तथा सौम्यो गान्धर्वो वारुणस्तथा॥

---

१. लंकाप्रदेशमारभ्य मक्कान्तं परमेश्वरि। सैन्धवाख्यो महादेशः पर्वते तिष्ठति प्रिये (३, ७, ५७)

२. त्रिकूटहिमवन्तर्वर्षो भारत उच्यते (अपराजितपृच्छा ३७, ३)

३. आ त्रिकूटं हिमाद्रयन्तं योजनैः शतपंचभिः। पूर्वापरौ तोयनिधी हिमदण्डश्च भारते॥ (वही ३८, १९)

४. दक्षिणापरतो ह्यस्य पूर्वेण महोदधिः। हिमवानुत्तरेणास्य कार्मुकस्य यथा गुणः। (मा०पु० ५७, ५९)

अयन्तु नवमस्तेषां द्वीपः सागरसंवृतः ।
योजनानां सहस्रं वै द्वीपा यं दक्षिणोत्तराद् ॥

पूर्वे किराता यस्यान्ते पश्चिमे यवनाः स्मृताः ।
ब्राह्मणाः क्षत्रियाः वैश्याः शूद्राश्चान्तः स्थिताः ॥

इज्यायुद्धवाणिज्याद्यैः कर्मभिः कृतपावनाः ।
तेषां संव्यवहारश्च एभिः कर्मभिरुच्यते ॥

अर्थात् 'हिमालय से दक्षिण का देश पिता ने भरत को दिया; इसलिये उस महात्मा के नाम से उसका नाम भारत पड़ा। इस भारतवर्ष के नौ भाग हैं जो परस्पर अगम्य हैं तथा समुद्र से घिरे हुये हैं। इनमें से आठ के नाम तो क्रमशः इन्द्रद्वीप, कसेरु, ताम्रवर्ण, गभस्तिमान्, नागद्वीप, सौम्य, गान्धर्व तथा वारुण हैं, और नवम यही (मुख्य) भूखण्ड है जो सागर से अच्छी तरह घिरा हुआ है। दक्षिण से उत्तर तक इसका सहस्रों योजन विस्तार है; इसके पूर्व सीमान्त पर किरात है, पश्चिम सीमान्त पर यवन रहते हैं और इसके भीतर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र क्रमशः यज्ञ, युद्ध, वाणिज्य आदि कर्मों द्वारा पवित्र होकर उन्हीं कर्मों के आधार पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र नाम ग्रहण करते हैं।' यही मान्यता मत्स्य (११४, ७६) तथा वायु (१, ४५, ७८-८०) पुराण की भी है।

इस वर्णन से स्पष्ट है कि किसी समय हमारी राष्ट्रभूमि के अन्तर्गत मुख्य-भूमि (जिसे अन्यत्र कुमारी द्वीप[1] भी कहा गया है) के अतिरिक्त आठ अन्य द्वीप भी माने जाते थे और यह बात उस समय की थी जब महाभारत[2] के अनुसार ही वर्णव्यवस्था को जन्म के अनुसार न मान कर कर्म के अनुसार माना जाता था। निस्संदेह यह स्थिति मौर्यवंश के पूर्व रही होगी, क्योंकि उस समय की स्थिति को चित्रण करने वाले ग्रीक लेखकों ने लिखा[3] है कि 'भारत-वर्ष की सीमा के बाहर दिग्विजय करना राजा के लिये धर्मानुकूल नहीं माना जाता था।' भारत की उक्त बृहत्तर सीमा महाभारत काल से भी पूर्व रही होगी, क्यों कि महाभारत में संजय ने धृतराष्ट्र को भारतवर्ष का जो विस्तार

१. कुमारीपुरात् प्रभृति विन्दुसरोवधि (काव्यमीमांसा अ० १७) कुमारीद्वीपश्चा यं नवमः (का० मी०, गा० ओ० सि० पृ० ९)

२. चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः। (भगवद्गीता)

३. मिक्रिडिल, ऐन्श्येन्ट इंडिया ऐज़ डेस्क्राइब्ड बाई मेगास्थनीज़ ऐण्ड एरियन, पृ० २०९।

बताया है उसमें उल्लिखित पर्वत, नदी तथा जनपद उक्त कुमारीद्वीप के अन्तर्गत ही आ जाते हैं। ब्रह्मांड (अ० ४६), कूर्म (अ० ४७), विष्णु (२, ३), वराह (अ० ८५), वामन (अ० १३) आदि पुराणों का भारत भी इसी सीमा के भीतर है। इससे प्रतीत होता है कि अष्टद्वीप सहित कुमारीद्वीप को भारतवर्ष माना जाना सम्भवतः वैदिक-काल की घटना है और सम्भवतः इसीके प्रतीक स्वरूप ऋग्वेद के अगस्त्य[1] ऋषि दक्षिणपूर्व एशिया के द्वीपों में चिरकाल तक पूजे जाते रहे।

## वैदिक चतुःसमुद्र

यह बात ऋग्वेद में उल्लिखित चार समुद्रों से भी प्रमाणित होती है। डा० अविनाशचंद्रदास[2] तथा डा० सम्पूर्णानन्द[3] ने इन चार समुद्रों को उस सुदूर अतीत में ढूंढने का प्रयत्न किया है जब विन्ध्याचल के उत्तर में वर्तमान राजपूताना से लेकर बंगाल तक समुद्र ही समुद्र था, और एक समुद्र मध्य एशिया में भी था। परन्तु ये विद्वान् इस बात को भूल गए कि जो भू-गर्भ-शास्त्री इन समुद्रों के अस्तित्व को प्रमाणित करते हैं वही यह भी कहते हैं कि उस समय वर्तमान हिमालय पर्वत नहीं था। जैसा कि ऊपर बतलाया गया है, ऋग्वेद और अथर्ववेद स्पष्टतः हिमालय का उल्लेख करते हैं और बर्फीले पहाड़ों के अतिरिक्त 'वृक्षकेश' गिरियों तथा उनसे निकलने वाली शताधिक नदियों को भी जानते हैं। इसके अतिरिक्त अन्य प्रमाणों द्वारा भी ऊपर सिद्ध किया जा चुका है कि वैदिक-काल में वर्तमान हिन्द महासागर से लेकर हिमालय तक का भारतवर्ष वैदिक लोगों को ज्ञात था। अत एव उक्त चार समुद्रों में दो तो उन्हीं समुद्रों को माना जाना चाहिए जिन्हें वेद में पूर्व और अपर समुद्र[4] कहा गया है, क्योंकि इन्हीं दोनों समुद्रों से उठने वाली दो बरसाती हवाओं (वातों) का भी अन्यत्र[5] उल्लेख हुआ है। इन दोनों समुद्रों से उठने वाली मानसून अधिष्ठाता को ही एक ऐसे केशी (जटाधारी) देवेषित मुनि

१. देखिए 'अगस्त्य-कथा एवं अगस्त्योपासना', विश्वभारती (१९६७, अंक ३), पृ० २४५–२५४

२. ऋग्वैदिक इंडिया।

३. आर्यों का आदि-देश।

४. ऋ० १०, १३६, ५।

५. द्वाविमौ वातौ वात आ सिन्धोरा परावतः (ऋ० १०, १३७, २)

अथवा वातरसना मुनियों के रूप में कल्पना की गई है जिसके लिए वायु मंथन करता है और अमा (रात, अंधकार) पैदा कर देता[१] है। इन दोनों समुद्रों के अतिरिक्त, अन्य दो समुद्रों को, उक्त पूर्व समुद्र से पूर्वस्थित वर्तमान हिन्द-महासागर तथा प्रशान्त महासागर के उन भागों के रूप में देखा जा सकता है जिनमें पौराणिक अष्ट द्वीपों में से सौम्य, वारुण, कसेरु आदि द्वीप स्थित रहे होंगे। इस प्रकार ऋग्वेद में उल्लिखित चार समुद्र दक्षिणी-पश्चिमी तथा दक्षिणी-पूर्वी एशिया के समुद्र प्रतीत होते हैं जिनकी धन-संपत्ति की याचना ऋग्वेद में सोम से की जाती[२] है। यह सम्पत्ति निःसंदेह वर्षा करने वाले बादलों की संपत्ति प्रतीत होती है, क्योंकि एक स्थान[३] पर वह "सुन्दर आयुध (विद्युत्) वाली, सुन्दर सहायता वाली, सुन्दर ढंग से प्राप्त होने वाली, चार समुद्रों से सम्बन्ध रखने वाली, धनों को धारण करने वाली, गतिशील, प्रशंसनीय, बहुतों द्वारा वरणीय, चित्र और वर्षा करने वाली है।" यह वर्षारूपी चतुःसमुद्री-संपत्ति सब ओर से (विश्वतः[४]) प्राप्त हो ऐसी कामना की गई है, क्योंकि केवल दक्षिण-पश्चिम से आने वाली मानसून राष्ट्र की सब भूमि के लिए पर्याप्त नहीं हो सकती थी; विशेषकर सभी द्वीपों को इससे वृष्टि प्राप्त करना सम्भव नहीं था। वर्षा निःसंदेह इस भूमि के लिए सर्वश्रेष्ठ सम्पत्ति रही है; इसीलिए यह भूमि 'पर्जन्य-पत्नी' वर्षारूपी मेद (चर्बी) वाली तथा वर्षा से विविध रूप में आवृत (वृतावृता) कही[५] गयी है और गर्जनशील (तन्यतोः) मेघरूपी महिष के 'वातापर्जन्याः' पेड़-पौधों (ओषधीः) के लिए महत्त्व[६] रखते हैं। वैदिक लोग जानते थे कि राष्ट्रभूमि में वर्षा के स्रोत

१. ऋ० १०, १३६, २; ५; ७।

२. रायः समुद्रांश्चतुरोऽस्मभ्यं सोम विश्वतः। आपवस्व सहस्रिणः

(ऋ० ९, ३३, ६)

३ स्वायुधं स्ववसं सुनीथं चतुःसमुद्रं धरुणं रयीणाम्।
चर्कृत्यं शंस्यं भूरिवारमस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिन्दाः॥

(ऋ० १०, ४७, २)

४. ऋ० ९, ३३, ६

५. भूम्यै पर्जन्यपत्न्यै नमोऽस्तु वर्षमेदसे (अ० १२, १, ४२)
वर्षेण भूमिः पृथिवी वृतावृता (अ० १२, १, ५२)

६. ऋ० १०, ६६, १०.

समुद्र थे; इसीलिए जहां देवों की घनिष्ठता द्यौ से बतलाई जाती है, वहाँ पृथिवी को समुद्रों से निकट सम्बन्ध रखने वाली बताया[1] गया है।

## सार्वभौम अथवा चक्रवर्ति-क्षेत्र

हिमालय से लेकर उक्त चार समुद्रों सहित पृथिवी को सम्भवतः सर्वभूमि[2] अथवा महापृथिवी[3] की संज्ञा दी गई और उसके अधिपति को सार्वभौम, महापार्थिव, चक्रवर्ती सम्राट्, समुद्रपर्यंत पृथिवी का एकराट्, महासम्राट्, चार समुद्रों की मेखला वाली पृथिवी का भर्ता[4], चार समुद्रों तक यश का विस्तार करने वाला[5] अथवा समुद्रपर्यन्त पृथिवी का स्वामी[6] कहा जाता है। जब चार समुद्रों की मेखला पहनने वाली पृथिवी की कल्पना की गयी, तो स्पष्टतः ये समुद्र राष्ट्रभूमि की चारों दिशाओं में नहीं हो सकते, जैसा कि डा० अविनाशचंद्रदास ने वैदिक भारत के प्रसंग में माना है। निःसंदेह मेखला कटि-प्रदेश में पहनी जाती थी; अतः समुद्रों को मेखलारूप में तभी माना जा सकता है जब भारतभूमि के अंतर्गत पुराणों में उल्लिखित समुद्रपार के आठ द्वीपों को भी सम्मिलित किया जाय।

## एकराट् इन्द्र और चक्रवर्ती सम्राट्

वैदिक देवताओं के महासम्राट्-पद का विवरण देखने से भी संकेत मिलता है कि राष्ट्रभूमि के उक्त स्थल तथा जल-प्रदेश उस एक ही महापद[7] से 'अभिवृत' माने जाते थे जो इंद्र से संबंधित था और जिसके प्रसंग में ही ऐतरेय ब्राह्मण[8] ने लिखा है कि 'जो यह इच्छा हो कि (अभिषिक्त) क्षत्रिय सब जातियों को जीते, सब लोकों को प्राप्त करे, सब राजाओं में श्रेष्ठता प्राप्त करे, एवं साम्राज्य, भौज्य, स्वाराज्य, वैराज्य, पारमेष्ठ्य, राज्य, महाराज्य, आधि-

---

१. द्यौ देवेभिः पृथिवी समुद्रैः (ऋ० ६, ५०, ३)
२. पृथिवीं सर्वाम् (श० ब्रा० १३, ५, ४, १३) सर्वभूमि-पृथिवीभ्यामणञौ (पा. ५, १, ४१
३. दीर्घनिकाय महागोविन्दसुत्त।
४. चतुरुदधिमेखलाया भुवो भर्ता (कालिदास, अभिज्ञानशाकुन्तलम्)
५. चतुरुदधिसलिलास्वादितयशसः
६. आसमुद्रक्षितीशानाम् (कालिदास, रघुवंश १)
७. ऋ० १०, ७३, २।
८. ऐ० ब्रा०, ८, १५।

पत्य से युक्त परम स्थिति को प्राप्त करे, चारों छोरों (अंत) तक पहुंचकर सार्वभौम वने और समुद्र-पर्यन्त पृथ्वी का एकराट् बने, उस क्षत्रिय को इस ऐन्द्र महाभिषेक की शपथ दिला कर राज्य में अभिषिक्त करना चाहिये।' शांतिकालीन योगक्षेम की दृष्टि से सारी राष्ट्रभूमि के जो दो महान् सम्राट् माने जाते थे, वे मित्र और वरुण[1] थे। जब कि सुरक्षा एवं शत्रु-विनाश की दृष्टि से इन्द्र और वरुण को महान् सम्राट् तथा महावसू माना जाता था एवं कभी-कभी एक को सम्राट् तथा दूसरे को स्वराट् कहा जाता था[2]। इनमें से मित्रावरुण नामक दोनों सम्राट् आकाशी-वृष्टि करने वाले (वृष्टिद्यावा) तथा पार्थिव जल देने वाले (रीत्यापाः) कहे[3] गये हैं, और वे जिस 'बृहन्तम् गर्तम्' को व्याप्त करते हैं वे संभवतः समुद्र हैं। अन्यत्र भी ये दोनों सम्राट् वृष्टि से संबंधित उग्र 'वृषभ' (५,६३.२-३) हैं जो विभिन्न प्रकार के मेघों द्वारा शब्द करते हुये वर्षा[4] करते हैं, तथा बादल एवं वृष्टि से सूर्य को छिपा देते हैं, जब कि पर्जन्य मधुमय-बूंदों को प्रेरित करता[5] है। इन दोनों में से भी वरुण बृहत्[6] है और मित्र सीमित[7]; यद्यपि धाम दोनों का एक है तथा बृहत् (१०,६५,५) वरुण का सम्बन्ध सुतार (सुतर्माणं नावं) नाव[8] से है, परन्तु नाव को विस्तार देने वाले तथा वरिष्ठवार्य को देने वाले एक साथ मित्र, वरुण तथा अर्यमा है (८,२५,११) (ऋ० ८,२५,११-१३); वर्षा का जल वरुण का दुग्ध है जिससे वह पृथिवी, भूमि और द्यौ को गीला कर देता[9] है। इससे प्रतीत होता है कि मित्रावरुण का क्षेत्र समस्त प्राकृतिक जल-प्रदेश था, चाहे वह स्थल की नदियों आदि के रूप में हो, अथवा समुद्र अथवा वृष्टि के रूप में; परन्तु संभवतः वरुण का मुख्य बृहत् धाम महासागर ही था और राष्ट्रभूमि का महासागरगत भाग (विभिन्न द्वीप) संभवतः स्वराट् वरुण का क्षेत्र माना जाता था जिसके मुख्य

---

१. महान्ता मित्रावरुणा सम्राजा देवावसुरा (ऋ० ८, २५, ४)।
२. सम्राळन्यः स्वराळन्य उच्यते वां महान्ताविन्द्रावरुणा महावसू (ऋ० ७,८२,२)
३. ऋ० ५, ६८, ५, वेङ्कटमाधवभाष्य 'वृष्टिमती द्यौर्भवति श्रितबला च पृथिवी'।
४. चित्रैरभ्रैरुपतिष्ठथो रवं द्यां वर्षयथो असुरस्य मायया (५, ६३, ३)
५. तमभ्रेण वृष्टया गूहथो दिवि पर्जन्य द्रप्सा मधुमन्त ईरते (५, ६३, ४)
६. वन्दस्व वरुणं बृहन्तम् (८, ४२, १)
७. तु०क०-वैदिक एटिमॉलॉजी पृ० १८४; नि० १०, २१।
८. तु०क०-सुतर्माणमधिनावं रुहेम (८, ४२, १)
९. उनत्ति भूमिं पृथिवीमुत द्यां यदा दुग्धं वरुणो वष्ट्यादित् (५, ८५, ४)

केन्द्र-स्वरूप एक द्वीप (बोर्नियो) को भी इसीलिये वारुण नाम दिया गया था। इसके विपरीत इन्द्र केवल पृथिवी (४,१६,३), द्यावापृथिवी (१,१००,१) का सम्राट् अथवा वृषा-सम्राट् है, मरुतों की सहायता से वृत्र का हन्ता (७,५८, ४;४,२१,१०) और वरुण के साथ महावसुत्व ग्रहण करके (७,८२,२) इन्द्रा-वरुण के रूप में जल की नहरों अथवा कूपों (अपां खानि), युद्ध और क्षेम, शत्रुओं का विनाश तथा आवरण (७,८२,३-६) आदि का काम करता है। इस प्रकार क्षेम और सुरक्षा दोनों इन्द्रावरुण के संयुक्त अधिकार-क्षेत्र में होते हुये भी, क्षेम-कार्य वस्तुतः मित्रावरुण[1] का क्षेत्र है, और सुरक्षा तथा युद्ध इन्द्रामरुत[2] का; प्रथम कार्य (क्षेम) के माध्यम से वरुण छोटी-छोटी वस्तुओं के द्वारा 'भूयस्' (वृहत्) का आवरण कर लेता है और दूसरे के माध्यम से इन्द्र शिथिल होते हुये शत्रु का विनाश कर देता[3] है। इस प्रकार मित्रावरुण एवं इन्द्रामरुत के सम्मिलित प्रयत्न के द्वारा[4] ही व्यष्टि और समष्टि उस अद्वैत तथा अखण्ड कल्याण की प्राप्ति संभव है जिसे 'स्वस्ति[5]' कहा जाता है।

अतः देवताओं के महा-साम्राज्य में यद्यपि कई देवता सम्राट् कहे गए, परन्तु यथार्थ सम्राट्[6] और एकराट्[7] इंद्र ही है जिसे सभी व्यष्टिगत रातियों (देनों) की समष्टि एक महाशुल्क[8] (टैक्स, या कर) के रूप में दी जाती है। यह महाशुल्क[9] वरुण का माना जाता है और इसको पाने के लिए ही इंद्र अपने

---

१. क्षेमेण मित्रो वरुणं दुवस्यति (ऋ० ७, ८२, ५)
२. मरुद्भिरुग्रः शुभन्य ईयते (वही)
३. अजामिमन्यः श्नथयन्तमातिरद् दभ्रेभिरन्यः प्रवृणोति भूयसः (७,८२,६)
४. किमू नु वः कृणवामापरेण कि सनेन वसव आप्येन।
यूयं नो मित्रावरुणादिते च स्वस्तिमिन्द्रामरुतो दधात (ऋ० २, २९, ३)
५. देखिए 'स्वस्ति' के लिये डा. फतहसिंह कृत 'भारतीय सौन्दर्य-शास्त्र की भूमिका' पृ. १-५।
६. ८, ४६, २०; १०, ११६, ७; ४, १९, २; ७, ५८, ४; ८२, २; १, १००, १ इत्यादि।
७. एकराळस्य भुवनस्य राजसि शचीपत इन्द्र विश्वाभिरूतिभिः (ऋ० ८, ३७, ३)
८. महे चन त्वामद्रिवः परा शुल्काय देयाम्।
न सहस्राय नायुताय वज्रिवो न शताय शतामघ॥ (ऋ० ८. १, ५)
९. महे शुल्काय वरुणस्य नु त्विष ओजो मिमाते ध्रुवमस्य यत् स्वम्।
अजामिमन्यः श्नथयन्तमातिरद् दभ्रेभिरन्यः प्रवृणोति भूयसः॥ (७, ८२, ६)

'ध्रुव' तेज को विभिन्न इकाइयों में मित (सीमित) करके वरुण को सम्भवतः मित्ररूप प्रदान करता है। इसी दृष्टि से इन्द्र के उस 'महापद' की कल्पना की गई है जिसके आधार पर राष्ट्रभूमि में सार्वभौम एकराट् को ऐन्द्रमहाभिषेक कराने का विधान[1] किया गया है और व्यक्ति के भीतर उग्र, चैतन्य, अधिराट् को प्रतिष्ठित माना गया[2] है। अतः इन्द्र का 'महापद' न केवल व्यष्टि और समष्टि की एकता का प्रतीक है, अपितु इसी के आधार पर उस राजनीतिक परिकल्पना का भी उदय हुआ जिसके अनुसार भारतवर्ष नामक समस्त राष्ट्रभूमि को एक ही 'ऐन्द्रपद[3]' अथवा चक्रवर्ति-पद के अंतर्गत एक राजनीतिक इकाई माना जाता रहा। महाभारत (भी. पर्व अ. ९) में एकराट् चक्रवर्तियों के नामों को गिनाते हुए सर्वप्रथम इन्द्र का नामोल्लेख है।

परन्तु इन्द्र के पश्चात् मनु, वैवस्वत, वैन्यपृथु, इक्ष्वाकु, ययाति, अम्बरीप, मान्धाता, नहुष, मुचुकुन्द, शिवि, ऋषभ, नृग, कुशिक, गाधि, सोमक तथा दिलीप आदि बलवान् क्षत्रियों के जिस 'प्रिय भारत' का उल्लेख है वह पुराणों का 'कुमारीद्वीप' मात्र है। कौटिल्य के अनुसार यह भारतवर्ष ही चक्रवर्ति-क्षेत्र था जिसे 'पृथिवी' की भी संज्ञा दी जाती थी जिसके अंतर्गत हिमालय से लेकर समुद्रपर्यंत सहस्रयोजन-परिमाण[4] भूमि थी। कौटिल्य से भी पूर्व शतपथ-ब्राह्मण[5] और ऐतरेय-ब्राह्मण[6] ने इसी क्षेत्र को 'सर्वा पृथिवी' कहा है। इसी चक्रवर्ति-क्षेत्र की तुलना उस[7] 'सर्वा पृथिवी' से की जा सकती है जिसे महाभारत के चक्रवर्तियों ने जीता था। कादम्बरी में चंद्रापीड के साम्राज्य की सीमा भी उत्तर में गन्धमादन पर्वत से लेकर दक्षिण में सेतुबन्ध तक और पूर्व में उदयाचल से लेकर पश्चिम में मन्दराचल तक मानी गई है। हर्षचरित में हर्ष को उदयाचल से लेकर अस्ताचल तक तथा गन्धमादन से लेकर लंकास्थित सुवेल तक राज्यविस्तार के लिए प्रयत्नशील बतलाया गया है। कालिदास के रघुवंश (चतुर्थ सर्ग) में रघु पूर्व समुद्र (बंगाल की खाड़ी) तट के प्रदेशों को जीतकर

१. ऊपर उद्धृत।
२. उग्रं चेत्तारमधिराजमक्रन् (ऋ० १०, १२८, ९)
३. ऋद्धं हि राज्यं पदमैन्द्रमाहुः (रघु० २, ५०)
४. देशः पृथिवी। तस्यां हिमवत्समुद्रान्तरमुदीचीनं योजनसहस्रपरिमाणमतिर्यक् चक्रवर्त्तिक्षेत्रम् (अर्थशास्त्र ९,१)
५. य आहरद् विजित्य पृथिवीं सर्वामिति (१३, ५, ४, १३)
६. भरतो दौष्यन्तिः समन्तं सर्वतः पृथिवीं जयन् परीयाय (८, २३)
७. म० भा० ३, २५३, २२; २, २६–३२)

दक्षिण में पाण्डय प्रदेश, पश्चिम में पारसीक प्रदेश, उत्तर में वंक्षुतटवर्ती हूण-प्रदेश तथा पूर्वोत्तर में प्राग्ज्योतिष (आसाम) को विजय करता है। चक्रवर्ति-क्षेत्र की यही मान्यता उन परवर्ती शिलालेखों में विद्यमान है जिनका उल्लेख करते हुए डा० सरकार[1] ने चक्रवर्ति-क्षेत्र 'भारतवर्ष की परम्परागत सीमाओं' को इस प्रकार बताया है—

(१) उत्तर—हिमालय, बिन्दुसर, गन्धमादन, कैलास, केदार, सुमेरुपर्वत, प्राग्ज्योतिष या कामरूप, वंक्षु और बाल्हीक।

(२) दक्षिण—हिन्दमहासागर, कुमारी अंतरीप, महेन्द्रगिरि, सेतुबंध-रामेश्वर, सुवेल, सिंहलद्वीप और मलय।

(३) पूर्व—बंग, लौहित्य, उदयाचल, बंगाल, गंगासागर-संगम।

(४) पश्चिम—सिन्धु-मुख, अरबसागर, मन्दराचल, अस्ताचल तथा पारसीक देश।

### राष्ट्र-भूमि के दो रूप

इस प्रकार हमारी प्राचीन परम्परा में भारतवर्ष के दो रूप मिलते हैं—एक के अनुसार ऋग्वेद का चतुःसमुद्री भारत है जिसके अन्तर्गत मार्कण्डेय, मत्स्य तथा वायुपुराण कुमारी-द्वीप सहित नवद्वीप मानते हैं; इसी की ध्वनि हमें राजशेखर[2] की काव्यमीमांसा में भी मिलती है। दूसरे रूप में वह कुमारी-द्वीप मात्र है जो हिमालय से लेकर कुमारी अंतरीप तक फैला हुआ है; यही राष्ट्रभूमि रामायण, महाभारत तथा ब्रह्माण्ड, कूर्म, विष्णु, वराह और वामन-पुराण का भारतवर्ष है एवं इसी को काव्यमीमांसा को छोड़ कर अन्य परवर्ती साहित्य-ग्रंथों तथा शिलालेखों ने याद रखा है। कालिदास[3] ने इसी भारतवर्ष की 'पृथिवी' को ध्यान में रख कर हिमालय को पूर्वी एवं पश्चिमी समुद्र में अवगाहन करने के पश्चात् मानदंड का रूप धारण करने वाला माना है।

---

१. डा० डी० सी० सरकार कृत 'स्टडीज़ इन दी ज्यॉग्राफी आव ऐन्शेन्ट इंडिया' पृ० १३.

२. कुमारीपुरात्प्रभृति बिन्दुसरोऽवधि योजनानां दशशतीचक्रवर्तिक्षेत्रम्, तां विजयमानश्चक्रवर्ती भवति......तत्रेदं भारतं वर्षम्। अस्य नव भेदाः-इन्द्रद्वीपः, कसेरुमान्, ताम्रपर्णी, गभस्तिमान्, नागद्वीपः, सौम्यो, गन्धर्वो, वरुणः, कुमारीद्वीपश्चायं नवमः। पञ्चशतानि जलं पञ्च स्थलमिति विभागेन प्रत्येकं योजनसहस्रावधयो दक्षिणात् समुद्रात् अद्रिराजं हिमवन्तं यावत्परस्परमगम्यास्ते। तान्येतानि यो जयति स सम्राडित्युच्यते।

(गा० ओ० सि० संस्करण पृ० ६२)

३. कुमारसम्भवम् (१, १)

सिन्धुघाटी से प्राप्त प्रतीकों में जब एक पुरुप की फैली हुई दोनों भुजाओं के सिरों से लटकती हुई दो गोलाकार वस्तुएँ दिखाई जाती हैं तो सम्भवत: उसी विचार को एक दूसरा रूप दिया जाता है जिसके अनुसार हिमालय को राष्ट्र-पुरुष की फैली हुई भुजायें माना जाता है तथा हिमालय से सम्बद्ध पश्चिमी एवं पूर्वी गिरि-श्रेणियों से संपृक्त दो समुद्रों को दोनों भुजाओं से लटकते हुए दो गोलों के रूप में दिखाया जाता है। परन्तु ऋग्वेद में जैसा कि आगे बताया गया है, राष्ट्रपुरुष या यज्ञ-पुरुष की कल्पना मिलती है, और हिमालय को पूर्व से पश्चिम तक फैला हुआ 'मान' तथा इन्द्रावरुण अथवा मित्रावरुण को राष्ट्रपुरुष का वेमा (फैली हुई उभय भुजायें) माना गया प्रतीत होता है; मित्रावरुण के दो रूपों को दो पुत्र बताया गया है, जिनमें से एक स्थिरतम होने से वसिष्ठ कहलाता है और दूसरा इसी 'अग' (गमनरहित) का विस्तार-मय रूप होने से 'अगस्त्य' माना गया है। ऋग्वेद का यह विस्तारशील अगस्त्य उसे जलांशीय भारत का प्रतीक प्रतीत होता है जिसकी अनेक नदियों से पूर्व एवं पश्चिम समुद्र संयुक्त हैं। अत एव ऋग्वेद[1] में अगस्त्य की नदियों के जिन रोहित (चढ़े हुए, उमड़े हुए) अश्वों को संयुक्त किया जाता है वे सम्भवत: उक्त समुद्र ही हैं। इन्हीं दो अश्वों के सन्दर्भ में दो अश्विनी को अगस्त्य के भीतर वर्धनशील[2] अथवा मदनशील[3] तथा स्वयं अगस्त्य को पणि-नामक अरातियों (अराधस:) के विनाश[4] से सम्बन्धित माना जाता था। अत: इस प्रकार जिन अगस्त्य की उपासना परवर्तीकाल में दक्षिणी-भारत तथा हिन्दे-शिया के द्वीपों में पाई जाती है वे ऋग्वेद के अगस्त्य ही प्रतीत होते हैं, और इस लिए ऋग्वेद की चतु:समुद्री भारत के अन्तर्गत अष्टद्वीप सहित कुमारी-द्वीप को मानना सर्वथा संगत प्रतीत होता है।

इससे स्पष्ट होता है कि ऋग्वेदकाल में भारतवर्ष के अन्तर्गत हिमालय से लेकर कुमारी अंतरीप तक का भारतवर्ष तो था ही, परन्तु इसके अतिरिक्त समुद्रवर्ती आठ द्वीप भी थे। इसी को स्मृति मत्स्य, वायु तथा मार्कण्डेय पुराणों में होती हुई राजशेखर तक पहुँची। परन्तु कालान्तर में ये द्वीप सम्भवत:

---

१. अगस्त्यस्य नद्भ्य: सप्ती युनक्षि रोहित: (१०, ६०, ६)

२. अगस्त्ये ब्रह्मणा वावृधाना सं विश्पलां नासत्यारिणीतम् (१, ११७, ११)

३. अगस्त्ये नासत्या मदन्ता (१, १८४, ५)

४. पणीन न्यक्रमीरभि विश्वान् राजन्नराधस: (१०, ६०, ६)
पुराण और महाभारत में सम्भवत: इन्हीं पणियों कोकालेय नामक राक्षस कहा गया है।

भारत के हाथ से निकल गये, इसीलिये विष्णु, वराह आदि पुराणों, रामायण, महाभारत तथा शिलालेखों में प्राय: उक्त द्वीपों-रहित अथवा अधिक से अधिक लंकाद्वीप-सहित भारत का ही उल्लेख मिलता है। भारतवर्ष का यह अंगविच्छेद सम्भवत: सिन्धुघाटी-सभ्यता के काल में ही हो चुका था और यह समय डॉ. के. यन. शास्त्री[1] के अनुसार अब से लगभग ५००० वर्ष पूर्व का अथर्ववेद-काल है।

## राष्ट्रभूमि का आध्यात्मिक रूप

राष्ट्रभूमि के अंग-विच्छेद की जिस उक्त परम्परा का सूत्रपात सुदूर प्रागैतिहासिक काल में हुआ वह पाकिस्तान-निर्माण के बाद आज भी अपने भयावह रूप में दिखलाई पड़ रही है। इस परम्परा को समाप्त करने के लिये और सुदृढ़ राष्ट्रीयता को स्थापित करने के लिए, हमारे पूर्वजों ने अनेक प्रयत्न किये जिनकी झलक आज भी रामायण, महाभारत और पुराणों से लेकर कौटिल्य एवं कालिदास तक तथा पुन: शंकराचार्य से लेकर दयानन्द एवं गांधी के आदर्श कार्यकलापों में मिल सकती है। परन्तु इतना होते हुए भी, समस्या अब भी बनी है; अत: हमें अपने प्रयत्नों के औचित्य एवं उपयुक्तता पर विचार करने की आवश्यकता है। वैदिक-साहित्य में ही राष्ट्र को सुदृढ़ करने वाले ऐसे अनेक सिद्धान्तों को प्रस्तुत किया गया है जिनका अनुसरण करके ही आज के महान् राष्ट्र भी समृद्ध और सशक्त बन रहे हैं, परन्तु दु:ख की बात है कि हम उनसे वांछित लाभ नहीं उठा पाये। इस बात पर समुचित विचार करने से पूर्व, यह आवश्यक है कि हम वैदिक-राष्ट्रभूमि को पूरी तरह से समझ लें।

## आध्यात्मिक राष्ट्रभूमि

अभी तक हमने राष्ट्रभूमि के जिस स्वरूप की चर्चा की वह केवल उसका

---

1. 'A review of the whole problem as set forth above tends to point to the inference that the conditions of life envisaged in Atharvaveda are very much in accord with those under which people lived in the Indus Valley some five thousand years ago. From this investigation it would appear that the Rigveda is much older than the Indus civilization.'

(New Light on the Indus Civilization, Vol. 2, p. 142)

वह भौतिक परिवेश है जिसे प्रायः जड़ प्रकृति कहा जाता है। राष्ट्रभूमि के उक्त भौतिक परिवेश का इतिहास देखते हुये, हमने देखा कि, अथर्ववेद के अनुसार, राष्ट्रभूमि का एक आध्यात्मिक स्वरूप भी है; यही वस्तुतः उसका 'हृदय' है—उसका 'अमृत' रूप है जो सत्य से ढ़का हुआ 'परम व्योम' में स्थित[1] है। यही हमारी वास्तविक राष्ट्रभूमि है जो किसी भी 'उत्तम राष्ट्र' में तेज एवं वल का सञ्चार कर सकती[2] है, क्योंकि किसी देश का राष्ट्र उसके जनसमूह[3] में निहित है, और इसलिये उसको सच्ची शक्ति और दृढ़ता वाह्य भूमि से नहीं, अपितु उस आन्तरिक राष्ट्रभूमि से प्राप्त होती है जो उसके राष्ट्रजनों के अन्तर्तम में सत्य से आवृत होकर स्थित कही गई है। अतएव इस देश के मनीषियों ने राष्ट्र की कल्पना में राष्ट्रजन को विशेष महत्त्व दिया है।

हमारे राष्ट्रजन का सर्वप्रथम उल्लेख हमें ऋग्वेद में मिलता है। वहाँ उसका सामूहिक नाम 'भारतजन[4]' है, क्योंकि वे भरत के पुत्र (भरतस्य पुत्राः[5]) हैं, भरतवंशी[6] हैं। भारतजन पाँच भागों में विभक्त प्रतीत होते हैं, इसीलिये भारत के संदर्भ में पाञ्चजन्य कृषकों (कृष्टिषु) का उल्लेख हुआ[7] है। ऋग्वेद में अन्यत्र भी पञ्चजनों[8] की चर्चा प्रायः मिलती है और इसके अतिरिक्त पञ्च मानुष[9], पञ्च मानुषी क्षिती[10], पञ्च क्षितीः[11],

---

१. यस्या हृदयं परमे व्योमन्त्सत्येनावृतममृतं पृथिव्याः (१२, ८)।
२. सा नो भूमिस्त्विर्षि वलं राष्ट्रे दधातूत्तमे (वही)।
३. विशः वै राष्ट्राणि। (ऐ० ८, ४; श० ४, २, १, १७)
४. विश्वामित्रस्य रक्षति ब्रह्म इदं भारतं जनम् (ऋ० ३, ५३, १२)।
५. ऋ० ३, ५३, २४; तु०क० भरतस्य सूनवः (२, ३६, २)।
६. यदङ्ग त्वा भरताः संतरेयुः (ऋ० ३, ५३, ११-१२)।
७. अधि श्रवः पाञ्चजन्यासु कृष्टिषु (ऋ० ३, ५३, १६)।
८. ऋ० १, ८९, १०; ३, ३७, ९; ३, ५९, ८; ६, ११, ४; ६, ५१, ११; ८, ३२, २२; १०, ४५, ६; १०, ५३, ४।
९. ऋ० ८, ९, २।
१०. ऋ० ७, ७९, १।
११. ऋ० १, १७६, ३; ५, ३५, २; ६, ४६, ७; ७, ७५, ४; १०, ६०, ४; १०, ९३, १४; १०, ११९, ६।

पञ्च कृष्टीः[1], पञ्च चर्षणीः[2], पञ्च जाताः[3] तथा पञ्चव्रात नाम से भी राष्ट्रभूमि के जनों का स्मरण किया है। संभवतः इन वैदिक नामों को क्रमशः आधुनिक मीना, खत्री, किसान, चारण, जाट और भाट जातियों में देखा जा सकता है। ये विभिन्न नाम राष्ट्रजन के विविध गुण, कर्म, धर्म परिवेश आदि के आधार पर रक्खे गये प्रतीत होते हैं, क्योंकि इसमें संदेह नहीं कि वैदिक-कालीन राष्ट्रभूमि में आज की तरह ही अनेक भाषाओं के बोलने वाले तथा अनेक धर्मों को मानने वाले जन[4] रहा करते थे। परन्तु इन सभी की गणना संभवतः जनों या पञ्चजनों में होती थी, क्योंकि अन्यथा पाञ्चजन्य कृष्टीः[5] पाञ्चजन्य विशः (८, ६३, ७) मानुषीनां क्षितीनां (३,३४,२), मानुष-जन[6] आदि कथनों का कोई अर्थ नहीं रह जाता। इनके अतिरिक्त ऋग्वेद में पक्त, भलान, अलीन, विषाणी, शिव (७, १८, ७) तुर्वशु, यदु, मत्स्य, द्रुह्यु, अनु तथा पुरु (७, १८, १३-१४) जनों का भी उल्लेख मिलता है, और ऐसा कोई कारण नहीं दीखता जिससे इन सभी जनों का समावेश पञ्चजनों में न किया जाय।

## द्विविध पञ्चजन या भारतजन

ऋग्वेद में एक दृष्टि से इन पञ्चजनों के दो भेद किये[7] जाते हैं, जिनमें से एक को ऊर्जाद तथा दूसरे को गोजात कहा जाता[8] है। ऊर्जाद पञ्चजनों को अन्यत्र[9] गोअजनासः (गो से जन्म लेने के पूर्ववर्ती) भरत-अर्भक (गर्भस्थ शिशु) कहा गया है जो पत्र-शाखा-विहीन ठूंठों के समान अविकसित होकर

---

१. ऋ० २, २, १०; ४, ३८, १०।
२. ऋ० ५, ८६, २; ६, १०१, ६।
३. ऋ० ६, ६१, १२।
४. जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम् (अ० १२, १, ४५)।
५. ऊपर उद्धृत।
६. ऋ० ६, १६, ४।
७. ऋ० ८, ७२, ७-८; ६, ६८, ६; १, १२२, १३; ४, ६, ८।
८. ऊर्जाद उत यज्ञियासः पञ्चजना मम होत्रं जुषध्वम्। पञ्चजना मम होत्रं जुषन्तां गोजाता उत ये यज्ञियासः (ऋ० १०, ५३, ४)।
९. दण्डा इवेद् गोअजनासः आसन् परिच्छिन्ना भरता अर्भकासः। अभवच्च पुरएता वसिष्ठ आदित् तृत्सूनां विशो अप्रथन्त (ऋ० १०, ३३,६)।

एक ही अग्रवर्ती वसिष्ठ बन जाते हैं; इनसे भिन्न उक्त गोजात पञ्चजन हैं जो इस प्रसंग में विकासशील तृत्सु-जन (तृत्सूनां विशः) कहे गये प्रतीत होते हैं। तृत्सु शब्द की व्याख्या सी उपस्थित करते हुए कहा गया[1] है कि तीन ज्योतिर्मुखी (ज्योतिरग्रा) आर्य-प्रजायें उषा में तीन धर्मों के वीर्य-सिंचन से उत्पन्न होती हैं और इनकी ज्योति सूर्यवत्, गांभीर्य समुद्रवत् तथा वेग वायु के समान होता[2] है। ये त्रिविध आर्य-प्रजायें हृदय के सहस्रमुखी गुह्य-तत्त्व (निण्यं) को अनेक प्रज्ञानों के द्वारा चारों ओर बिखेरती हैं जिसके फलस्वरूप यम द्वारा विस्तारित किसी 'परिधि' को बुनते हुये अनेक वसिष्ठ उपस्थित हो जाते हैं (ऋ० १०, ३३, ९)। इस प्रकार वसिष्ठ के दो जन्म हैं, एक में वह ऊर्जाद पञ्चजन की समष्टि (७, ३३, ६) होने से ज्योतिस्वरूप अकेला (ऋ० ७, ३३, १०) पुरएता अग वसिष्ठ है, तो दूसरे में वह प्रथम का विस्तार-प्राप्त, विकसित एवं अनेकजनीन (विशः) रूप धारण करके विस्तार-सूचक अगस्त्य कहलाता[3] है। द्वितीय रूप में भारतजन, पञ्चजन अथवा तृत्सुजन तीन ज्योतिर्मुखी आर्य-प्रजाओं में परिणत हो जाते हैं जिनको जन्म देने वाली उक्त उषा ही गो है जिसके कारण वे गो-जात कहे जा सकते हैं।

## दो वर्ण

पञ्चजन की उक्त ऊर्जाद समष्टि की तुलना द्रविणोदा अग्नि से भी की जा सकती है जिसे 'ऊर्जस्पुत्र भरत' (१. ९६, ३) कहा गया है। इस भरत अग्नि के रूपांतर होने से एक दूसरे अग्नि रूप को 'भारत' अग्नि (ऋ० ६, १६, ४५) कहा गया है। अतः ऋ० ६, १६ में स्पष्ट रूप से बतलाया गया है कि 'मानुषजन' के भीतर जिस अग्नि को देवों ने स्थापित कर रक्खा (१) है, वही भरत अग्नि है (४) जो दो रूपों में पूज्य है—एक ऊर्जस्वरूप अमृतपुत्र (ऊर्जो नपादमृतस्य, २५) भरत है, तो दूसरा अजस्र रूप से दीप्तिमान, नाना-रूप में प्रकाशित होने वाला, अजर 'भारत' अग्नि (४५) है। निस्संदेह पहले

---

१. त्रयः कृण्वन्ति भुवनेषु रेतस्तिस्रः प्रजा आर्या ज्योतिरग्राः। त्रयो घर्मास उषसं सचन्ते सर्वा इत् ताँ अनु विदुर्वसिष्ठाः। (ऋ० १०, ३३, ७)।

२. सूर्यस्येव वक्षथो ज्योतिरेषां समुद्रस्येव महिमा गंभीरः। वातस्येव प्रजवो नान्येन स्तोमो वसिष्ठा अन्वेतवे वः (ऋ० १०, ३३, ८)।

३. तत् ते जन्मोतैकं वसिष्ठागस्त्यो यत् त्वा विशः आजभार (ऋ० १०, ३३, १०) तु०क० अग और अगस्त्य।

रूप में भरत कहा जाने वाला अग्नि ही दूसरे रूप में 'भारत' होकर अनेक भरतों के रूप में अभिव्यक्त होने के लिये नाना रूप में प्रकाशित होता[1] है।

मानुषजन के अंतस् में प्रकाशित इस अग्नि को शैशवावस्था में दूध पिलाने वाली एक अंधकार-प्रकाशमयी धाय है जिसे उषारात्री (नक्तोषसा) कहा जाता है और जो संभवतः भरत-अग्नि नामक इस शिशु को कृष्णशुक्लात्मक[2] द्विविध 'वर्ण' प्रदान कर जाती है। मानुषजन की इस अंतर्हित भरत-अग्नि के उक्त दो वर्ण ही क्रमशः आर्य[3] वर्ण और दास[4] वर्ण कहे गये हैं। इनमें से आर्य वर्ण निस्संदेह शुक्ल वर्ण है, इसीलिये ऊपर आर्य-प्रजाओं को 'ज्योतिरग्रा' कहा गया है; इसके विपरीत दास वर्ण को कृष्णवर्ण माना गया है, इसीलिये देव लोग 'दास' को अभिभूत करने के लिए अपने शुभ्र वर्ण की वृद्धि (१, १०४, २) करते हैं और इन्द्र प्रकाश-किरणों के द्वारा दास वर्ण को आक्रान्त (३, ३३, १) करता है। इन दोनों वर्णों को कभी-कभी क्रमशः अरुण और कृष्ण भी कहा जाता है जिन्हें परस्पर विरुद्ध रूपों वाली उषा तथा रात्रि एक में मिलाती है, परन्तु यह तब होता है जब अग्नि से सुमति की भिक्षा मांगी जाती[5] है। इससे प्रतीत होता है कि सुमति की प्राप्ति के लिये, दोनों वर्णों की संधि आवश्यक है; संभवतः इसीलिये खनित्रों से खोदते हुये तथा प्रजा, अपत्य एवं बल को चाहते हुये, अगस्त्य ऋषि दोनों वर्णों का पोषण[6] करने वाले कहे गये हैं।

## पौराणिक आर्य और म्लेच्छ

इस विवेचन से स्पष्ट है कि दास वर्ण और आर्य वर्ण दोनों ही परस्पर

---

१. जनस्य गोपा अजनिष्ट जागृविरग्नि सुदक्षः सविताय नव्यसे। घृतप्रतीको दिवस्पृशः द्युमद् विभाति भरतेभ्यः शुचिः (ऋ० ५, ११, १)।

२. नक्तोषासा वर्णमामेम्याने धापयेते शिशुमेकं समीची। द्यावाक्षामा रुक्मो अन्तर्विभाति देवा अग्नि धारयन् द्रविणोदाम् (ऋ० १, ९६, ५)

३. हत्वी दस्यून् प्रार्यं वर्णमावत् (ऋ० ३, ३४, ९)।

४. यो दासं वर्णमधरं गुहाकः (ऋ० २, १२, ४) तु०क० १, १०४, २।

५. त्वे अग्ने सुमतिं भिक्षमाणा दिविश्रवो दधिरे यज्ञियासः। नक्ता च चक्रुरुषसा विरूपे कृष्णं च अरुणं च संदधुः (१,७३,७)।

६. अगस्त्यः खनमानः खनित्रैः प्रजामपत्यं बलमिच्छमानः। उभौ वर्णौ ऋषिरुग्रः पुपोष सत्या देवेषु आशिषो जगाम (१, १७९, ६)।

विरोधी होते हुए भी मानुषजन में निहित भरत-अग्नि की उपारात्री से उत्पन्न होते हैं और वे वस्तुतः मानव-मात्र के व्यक्तित्व-विकास में दो छोर (ध्रुव) हैं जिन्हे क्रमशः अंधकार और प्रकाश अथवा असुनीति[1] और सुनीति[2] कहा जा सकता है। इन्हीं दो सीमाओं के सन्दर्भ में राष्ट्रभूमि के जनों को अथर्ववेद में जनों को 'भद्रपापा:' (भले और बुरे) की संज्ञा दी गई है (१२, १)। पुराणों में एक को मलिन इच्छा वाला होने से म्लेच्छ[3] तथा दूसरे को ऋग्वेद के समान ही आर्य नाम दिया गया; एक अकर्त्तव्य को करता है और कर्त्तव्य को छोड़ता है, जब कि दूसरा कर्त्तव्य करता है तथा अकर्त्तव्य को नहीं करता[4] है। मार्कण्डेयपुराण[5] भारतवर्ष के कुल-पर्वतों तथा अन्य सैकड़ों छोटे-छोटे पहाडों (शतशोऽन्येऽल्पपर्वता:) की ओर संकेत करते ही म्लेच्छों और आर्यों के उन अनेक जनपदों को स्मरण करता है जो उन पर्वतों से मिले-जुले बसे हुए हैं और उनसे बहने वाली नदियों का वे जल पीते हैं—

> तैर्विमिश्रा जनपदा म्लेच्छाश्चार्य्याश्च भागशः।
> तैः पीयन्ते सरिच्छ्रेष्ठा यास्ताः सम्यक् निबोध मे ॥

ब्रह्मवैवर्तपुराण भारत की नदियों का नामोल्लेख करने के पश्चात् कहता है कि इन नदियों के बीच में बसे हुए कुरु, पांचाल, मध्यप्रदेश, पूर्वदेश, कामरूप, (आसाम) ओड्र (उड़िया), कलिग, मगध, अपरान्त, सौराष्ट्र, अर्बुद (आबू), मारुक (मारवाड़), मालव, सौवीर, सिन्धु, शाकल (स्यालकोट) मद्र, रामा (लामा) दाक्षिणात्य, पारियात्र-निवासी, हूण, अम्बष्ठ, पारसीक आदि अनेक म्लेच्छ और आर्यजन इनका जल पीते हैं और हृष्ट-पुष्ट रहते हैं—

> आसां पिबन्ति सलिलं वसन्ति सरितां सदा।
> समीपतो महाभाग ! हृष्टं पुष्टं जनाकुलाः ॥

---

१. ऋ०, १०, १२, ४; १५, १४; १६, ४; १०, ५९, ५-६; शौ० १८, १, ३१; १८, २, ५६।

२. ऋ० ६, ४७, ७; १०, ७८, २; २, २३, ४; १०, ६३, १३।

३. तु०क०—गोमांसखादको यस्तु विरुद्धं बहु भाषते।
सर्वाचारविहीनश्च म्लेच्छ इत्यभिधीयते ॥ —बौधायन

४. वृत्तेन हि भवत्यार्यो न धर्मेण न विद्यया। —वाचस्पत्यम्
कर्त्तव्यमाचरन् कार्यमकर्त्तव्यमनाचरन् ॥
तिष्ठति प्रकृताचारे स वा आर्य्य इति स्मृतः ॥

५. भारतखण्ड, ५७।

ब्रह्मवैवर्तपुराण की सूची में उल्लिखित जनपदों के अतिरिक्त, अन्य पुराणों में निम्नलिखित जनों और जातियों को और गिनाया गया है:—

मध्यप्रदेश—मत्स्य, कुशूल, कुल्य, कुन्तल, काशी, कौशल, पुलिंद, समक और वृक।

सह्यप्रदेश—वाह्लीक, वाटधान, आभीर, कालतोयक, पह्लव, चर्मखण्डिक, गान्धार, यवन, पारद, आहारमूषिक, माठर, केकय, दशमानिक, काम्बोज, दरद, बर्बर, अंग, आत्रेय, भारद्वाज, प्रस्थल, दशेरक, लम्पक, सूनकार, चूलिक, जाह्लव, अपथ, अलिभद्र तथा किरात।

उदीच्यप्रदेश—तामस, हंसमार्ग, काश्मीर, तंगन, हुडुक तथा ऊर्ण।

प्राच्यप्रदेश—अन्ध्रवाक, मुद्गरक, अन्तर्गिरि, बहिर्गिरि, प्लवंग, बंग, मलद, मलवर्तिक, ब्रह्मोत्तर, प्रविजय, प्राग्ज्योतिष, मद्र, विदेह, ताम्रलिप्ति तथा गोमेद।

दक्षिणापथ—पाण्ड्य, केरल, चोल, सेतुक, कुमार, महाराष्ट्र, आभीर, ऐषीक, आटव्य, शबर, पुलिंद, विन्ध्यमालेय, वैदर्भ, दण्डक, पौरिक, मौलिक, अश्मक, तैलिक, अन्ध, उद्भिद तथा नालकारक।

अपरान्तप्रदेश—सोर्पारक, कालनद, दुल्ल, तालीयक, कारस्कर, लोहजंग, वानेय, राजमद्रक, त्रैपुर, तुम्वर, पाटव, नैषध महज, करुष तथा मेकल।

विन्ध्यप्रदेश—भरुकच्छ, कच्छ, मजल, करुष, मेकल, उत्कल, उत्तपर्ण, दशार्ण, भोज तथा त्रिगर्त।

पर्वतीय प्रदेश—निहार, कुपथ, खस, कुत्सु, प्रावरण, दर्व्व तथा सहुहुक।

## भारती-प्रजा और भारत

पुराणों में उल्लिखित उक्त सभी जन विभिन्न नस्लों, भाषाओं, मतों, रस्मरिवाजों वाले लोग होंगे, परन्तु फिर भी इन सभी को म्लेच्छ एवं आर्य में विभक्त करते हुए उन सब को केवल भारती-प्रजा अथवा भारती-सन्तति नाम दिया गया है। अतः विष्णुपुराण[1] के अनुसार समुद्र से उत्तर और हिमालय से दक्षिण जो भारतवर्ष है उसमें भारती-सन्तति रहती है। भागवतपुराण ने

---

१. उत्तरं यत्समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणम्।
वर्षं तद्भारतं नाम भारती यत्र संततिः॥
(वि० पु० २, १)

इसी भारत के जनों को भारती-प्रजा (भारत्याः प्रजाः[1]) कहा है। इसी प्रकार अन्यत्र भी हमारे राष्ट्रजन को भारती-संतति आदि कहा जाता है, परन्तु इसका अभिप्राय प्रायः यह समझा जाता है कि वे सब भारत-देश की संतान हैं। इस प्रसंग में स्मरणीय है कि देश का भारत नाम पौराणिक-परंपरा के अनुसार जिस 'भरत' नाम के चक्रवर्ती राजा पर पड़ा है वह तत्त्वतः ऋग्वेद का 'भरत' ही प्रतीत होता है।

पौराणिक 'भरत' नामक चक्रवर्ती के विषय में कहा गया[2] है कि उस महात्मा के 'महत्, दिव्य, भास्वर, अजित एवं सत् के उद्घोषक' चक्र का लोक में प्रवर्तन होता था। इस महत् दिव्य, भास्वर चक्र में जहाँ वैदिक-भरत के 'बृहद् भाः[3]' के दर्शन होते हैं, वहाँ इसकी तुलना 'ऋत' के द्वादशार-चक्र[4] से भी की जा सकती है जो अजर होकर प्रवर्तमान रहता है। प्रकारान्तर से यही इन्द्र के 'अघ्न्य' (जिसका हनन नहीं किया जा सकता) हिरण्यय रथ की मूर्धा पर विराजमान[5] चक्र है; यही कारण है कि वैदिक ऐन्द्रपद को परवर्ती-परंपरा में चक्रवर्ति-पद[6] माना जाता है। वस्तुतः यह ऋत-चक्र मनुष्य के व्यक्तित्व में अन्तर्हित है जिसकी कल्पना वेद में रथरूप में[7] करते हुये उसे विविध दृष्टियों[8] से अचक्र, एकचक्र, द्विचक्र, त्रिचक्र, सप्तचक्र अथवा अष्टचक्र भी कहा जा सकता है। इसी आधार पर अथर्ववेद[9] में उसे अष्टचक्रा नवद्वारा अयोध्यापुरी

---

१. शब्दकल्पद्रुम, खण्ड ३, पृ० ५०२ पर उद्धृत।

२. तस्य तत्प्रथितं चक्रं प्रावर्तत् महात्मनः।
भास्वरं दिव्यमजितं लोके सन्नादनं महत्॥
(म० भा० आदि० ६६, ४६)

३. प्रप्रायमग्नेर्भरतस्य शृण्वे यत् सूर्यो न रोचते बृहद् भाः।
(ऋ० ७, ८, ४; वा. सं० १२, ३४; तै० सं० २, ५, १२, ४)

४. द्वादशारं नहि तज्जराय वर्वर्ति चक्रं परि द्यामृतस्य (ऋ० १, १६४, ११)

५. न्यघ्न्यस्य मूर्धनि चक्रं रथस्य येमथुः (१, ३०, १९–२०)

६. ऋद्धं हि राज्यं पदमैन्द्रमाहुः (रघु०…तु० क० ऐ० ब्रा०)

७. तु० क० मनुषः रथम् (ऋ० १, १७५, ३)

८. ऋ० ५, ४२, १०; १, १७५, ३; १, १५७, ३; १, १८३, १; ४, ३६, १; १, १६४, ३; २, ४०; ३।

९. अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।
तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः (१०, २, ३१)

कहा गया है जिसके अन्तस्तम क्षेत्र में जो ज्योतिर्मण्डित हिरण्यकोश या स्वर्ग[1] है उसकी तुलना इन्द्र के उक्त हिरण्य-रथ से की जा सकती है। जब उक्त आठ चक्रों को केवल दो में परिणत किया जाता है, तो एक तो मानव के अन्तस्तल में इन्द्र के हिरण्यरथ का मूर्धस्थित चक्र बनता है और दूसरा[1] सप्तनेमि चक्र बनकर मानव के स्थूल शरीर में प्राण, वाक्, चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, रसना तथा त्वक् के सप्तक्षेत्रीय आकाश में सर्वत्र गतिमान्[2] रहता है; पहले स्तर पर जो अग्नि एक अद्वैत मानुष होता है, वही दूसरे स्तर पर सप्तमानुष[3] या सप्तहोता[4] बन जाता है। भरत अग्नि के प्रसंग में, इसी भाव को व्यक्त करते हुये ऊपर कहा जा चुका है कि पहले स्तर का भरत दूसरे में अनेक भरतों में अथवा एक पुरएता वसिष्ठ अनेक वसिष्ठों में परिणत हो जाता है; अतः प्रथम स्तर को भरत (पिता) तथा दूसरे को भारत (पुत्र) प्रथम को अग (वसिष्ठ), तो दूसरे को अगस्त्य (अग का विस्तारक) अथवा प्रथम को प्रजापति, तो दूसरे को प्रजायें कहा जाता है। यही कारण है कि जहां अग्नि को प्रजाओं के भरण-पोषण[5] करने के कारण भरत कहा जाता है, वहाँ प्रजापति[6] को भी इसी कारण 'भरत' संज्ञा दी जाती है। यह भरत अग्नि अथवा प्रजापति नर-देह के भीतर मननशील 'मनु' अथवा प्राणनशील प्राण बनकर भरण-पोषण का कार्य करता है; अतः मनु[7] और प्राण[8] को भी इसी निमित्त 'भरत' कहा गया है।

अत एव यह कहना अनुचित न होगा कि जिस 'भरत' के नाम पर हमारी राष्ट्रभूमि को भारत तथा उसके जनसमूह को भारतजन अथवा भरतपुत्र कहा गया, वह वस्तुतः मानव के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण से प्राप्त वह आन्तरिक मानुष है जो मनन, भावन, प्राणन आदि द्वारा निरन्तर प्रत्येक नरदेह का

---

१. अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।
तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः ॥ (१०,२,३१)।
२. परिद्यामन्यदीयते (ऋ० १, ३०, १९)।
३. यो अग्निः सप्तमानुषः (ऋ० ८, ३९, ८)।
४. ऋ० ३, २९, १४) प्र सप्त होता सनकादरोचत् (ऋ० ३, २९, १४)।
५. भरत्येव प्रजाः सर्वास्ततो भरत उच्यते (म० भा० वन० पूना २११/१) तु०क०श० १, ४, २, २; कौ० ३, २।
६. प्रजापतिर्वै भरतः स हि इदं एवं विभर्ति (श० ६, ८, १, १४)
७. भरणात्प्रजानां चैव मनुर्भरत उच्यते। निरुक्तवचनैश्चैव वर्षं तद् भारतं स्मृतम् (मत्स्य० पु० ११४, ५) भरणाच्च प्रजानां वै मनुर्भरत उच्यते (वायु० पु० ४५, ७६)।
८. प्राणो वै भरतः। स एव प्रजाः भरति।

भरण-पोषण करते हुये उसकी नस्ल, रंग, रूप, भाषा, धर्म, प्रान्त, जात-पाँत आदि का विचार भी नहीं करता। हो सकता है कि ब्राह्मण-काल में, भरत दौष्यन्ति नाम का कोई ऐतिहासिक प्रतापी राजा भी हुआ हो, परन्तु उस समय से बहुत पूर्व ऋग्वेद-काल में जब 'भारतजन' की संज्ञा का निर्माण हुआ, तो उस समय अनेकता में एकता खोजने वाली वैदिक बुद्धि ने अनेक धर्मों, नस्लों आदि से युक्त नाग, मत्स्य आदि जनों में एक ऐसे विश्वमनस[1] एवं 'विश्व-मानुष' को खोज निकाला जो सर्वत्र सब के भीतर समान रूप से भरण-पोषण कर के 'भरत' तथा रञ्जन करने से राजा कहलाने का अधिकारी है। इस विश्वमानुष की भारतभूमि प्रत्येक मानव के भीतर है; यही हमारी राष्ट्रभूमि वह अमृत-हृदय है जो सत्य से ढका कहा गया है।[2] यही वह विश्वभारती है जहाँ, अथर्ववेद के शब्दों में 'सारा विश्व एकनीड हो जाता है' (यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्) अतः भावात्मक एकता और राष्ट्रीय एकता का आधार ऋग्वेद ने मानव के इसी आध्यात्मिक (मनोवैज्ञानिक) स्तर को बनाया, जहाँ मनुष्यकृत ईर्ष्या-द्वेष, सांप्रदायिक रागद्वेष तथा भेदजन्य घृणा-लोभ के लिये तनिक भी गुँजायश नहीं थी। अतः वेद ने इसी भूमि को किसी भी 'उत्तम राष्ट्र' के लिये तेज और बल का स्रोत माना है।

### राष्ट्र

इस प्रकार मानव-व्यक्तित्व के जिस रूप को वेदों ने प्रस्तुत किया है वह स्वयं एक भरत का राष्ट्र है जिसके भीतर हिरण्यय (आनन्दमय), विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय तथा अन्नमय नामक पांच कोश हैं और अथर्ववेद के १०,२ में जिस पुरुष, ब्रह्म या यक्ष का उल्लेख किया गया है वह प्रथम (हिरण्यय) कोश में स्थाणु (स्थिर), द्वितीय (विज्ञानमय) में इन्द्ररथ, तृतीय (मनोमय) में देवरथ, चतुर्थ (प्राणमय) में वरुणरथ तथा पंचम (अन्नमय) में अहिरथ माना जाता[4] है। इन्हीं चार रथों के रूप में उक्त स्थाणु पुरुष (आत्मा) निष्क्रिय से सक्रिय होकर मानव-व्यक्तित्व को धारण करने के कारण धर्मः (पुं०) अथवा

१. ऋ० ८, २३, २; ८, २४, ७, तु० क० १०, ५५, ८।
२. ऋ० ८, ४५, ४२।
३. १२, १।
४. इन्द्रस्य प्रथमो रथो देवानामपरो रथो वरुणस्य तृतीय इत्।
अहीनामपमा रथः स्थाणुमारदथार्षत (अ० वे० १०, ४)

राजा धर्म कहलाता[1] है; इसी को दूसरी दृष्टि से, प्रथम स्तर (स्थाणु) पर सत्यराजन् अथवा राजन्, द्वितीय (इन्द्ररथ) पर सम्राज्, तृतीय (देवरथ) पर विराज, चतुर्थ (वरुणरथ) पर स्वराज तथा पंचम (अहिरथ) पर मित्र संज्ञा[2] प्राप्त हुई प्रतीत होती है।

## व्यष्टिराष्ट्र

एक अन्य दृष्टि से इस व्यष्टिराष्ट्र के इन पाँच स्तरों को तीन श्रेणियों में विभक्त किया जाता है—

१. स्थाणु जो एक दृष्टि से परम (सर्वोच्च) स्थिति में होने से परमेष्ठी[3] तथा दूसरी दृष्टि से अवशिष्ट चार स्तरों की प्रजाओं का सर्वोच्च पालक (केवल साक्षी रूप में) होने से प्रजापति[4] भी कहलाता है।

२. सम्राज[5] जिसके अंतर्गत उक्त इंद्ररथ तथा देवरथ दोनों स्तरों का समावेश होता है।

३. स्वराज[6] जिसके भीतर सम्भवतः केवल चतुर्थ (वरुणरथ) तथा पंचम मित्र (अहिरथ) स्तरों का समावेश होता प्रतीत होता है।

इस प्रकार व्यष्टि-राष्ट्र की समस्त रातियों (देनों) में से प्रजापति अथवा परमेष्ठी स्तर की रातियों को निष्क्रिय साक्षी कहा जा सकता है, तो सम्राज (इंद्ररथ, देवरथ) स्तर की रातियों को परोक्ष सक्रिय तथा स्वराज (वरुणरथ तथा अहिरथ या मित्र) स्तर पर उन्हें प्रत्यक्ष सक्रिय कहा जा सकता है।

सक्रिय स्तर पर ही राष्ट्र का भौतिक अस्तित्व है, और इस स्तर पर वह क्षत्रिय इंद्र का 'द्विता[7] राष्ट्र' कहा जाता है जिसमें इन्द्र एवं वरुण क्रमशः सम्राट् और स्वराट् के रूप में संयुक्त आधिपत्य रखते हुए माने जाते हैं तथा

---

१. धर्मोऽस्मि विशि राजा प्रतिष्ठितः (वा० सं० १, २०, ६)
२. वा० सं० १, २०, ४–५
३. ब्रह्म मं परमेष्ठिनम् (अ० वे० १०, २१); तत्र तन्तुं परमेष्ठी ततान (अ. वे. १३,६)
४. प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरदृश्यमानो बहुधा विजायते (अ. वे. १०, ८)
५. वा. सं. १, २०, ५–६)
६. वही १, २०, ७–८
७. मम द्विता राष्ट्रं क्षत्रियस्य (ऋ० वे० ४, ४२, १)

दोनों संयुक्त रूप में महावसू भी कहलाते[1] हैं। फिर भी इन्द्र वरुण को गौरव करने वाला उक्त प्रजापति अथवा परमेष्ठी स्तर ही है, क्योंकि उसी के ओज को प्राप्त करके इन्द्र सम्राट् बनता[2] है और वरुण तो इंद्र का ही एक रूप[3] है—इन्द्र अपनी 'वृष्टि' और वरुण की 'वव्रि' में समान रूप से शासन करता[4] है, सभी अमृतदेव वरुण के 'क्रतु'[5] का उसी प्रकार सेवन करते हैं, जिस प्रकार इन्द्र के 'क्रतु' का और इसीलिए इन्द्र द्वारा सम्पादित वृत्रघनादि को वरुण[6] द्वारा किया हुआ बताया जाता है। वस्तुतः व्यष्टि-राष्ट्र अपने भौतिक एवं व्यक्त (निरुक्त) रूप में प्रजापति का द्विविध तनु माना[7] जाता है—एक लोभ, त्वक्, मांस, अस्थि तथा मज्जा-रूप में पंचविध मर्त्य-शरीर, तथा दूसरा मन, वाक्, प्राण, चक्षु एवं श्रोत्र के शक्तिरूप में पंचविध अमृतशरीर। प्रजापति के इस रूप की 'परिमित[8]' संज्ञा भी है जिसको 'मा' धातु से निष्पन्न मित्र[9] देवता का भी सम्बन्ध प्रतीत होता है; लोभ, त्वक् आदि विविध रूपों में 'मित' (सीमित या परिमित) होने से ही यहां परमेष्ठी प्रजापति (पुरुष) मित्र कहलाता है और साथ ही प्राण आदि द्वारा आवरण[10] का कर्त्ता होने से वरुण तथा मन, चक्षु आदि द्वारा इंद्रियशक्ति का प्रसार करने से इन्द्र[11]

---

१. सम्राडन्य; स्वराडन्य उच्यते वां महान्ताविन्द्रावरुणा महावसू (७, ८४, २) तु. क. ऋ० वे० ४, ४२, ३)

२. ऐ. ब्रा. ३, २१; १, १४; श. ब्रा. ७, ४, १, ३६; तां. ब्रा. ६, ४, १।

३. अहमिन्द्रो वरुणः (ऋ० ४, ४२, ३) अहं राजा वरुणः (ऋ० ४, ४२, २)

४. राजामि कृष्टेरुपमस्य वव्रेः (ऋ० ४, ४२, १–२)

५. क्रतुं सचन्ते वरुणस्य देवाः (ऋ० ४, ४२, १–२)

६. विदुष्टे विश्वा भुवनानि तस्य ता प्रब्रवीषि वरुणाय वेधः।
त्वं वृत्राणि शृण्विषे जघन्वान् त्वं वृताँ अरिणा सप्त सिन्धून् (ऋ०वे० ४, ४२, ७)

७. तदेता वै अस्य (प्रजापतेः) ताः पंच मर्त्यास्तन्व आसं लोम त्वद् मांसमस्थि मज्जाथैता अमृता मनो वाक् प्राणश्चक्षुः श्रोत्रम् (श. १६, १, ३, ४)

८. देखिए-वैदिक एटिमोलोजी पृ. १६५ तु. क. उभयमेतत् प्रजापतिः—परिमितश्चापरिमितश्च (श. ब्रा. ६, ५, ३, ७)

९. देखिए-वैदिक एटिमोलोजी पृ. १८४

१०. देखिए-वैदिक एटिमोलोजी पृ. १६४ तु. क. स (वरुणः) अब्रवीदयद्वो न कश्चना वृत तदहम्परिहरिष्ये। अव्वांतं साम्नो वृणे (जै. उ. १, ५२, ८)

११. देखिए-वैदिक एटिमोलोजी पृ. ८७–१०२

कहा जाता है। श्वासोच्छ्वास, रक्तसंचार आदि में सक्रिय प्राण शब्द करता है जो कान बंद करके भी अपने भीतर एकाग्रचित्त होकर सुना जा सकता है; अतः उक्त वरुणरथ तथा अहिरथ प्रस्तरों पर प्राण को रुत् (शब्द) करने वाला रुद्र[1] कहा जाता है।

व्यष्टि-राष्ट्र के इस सक्रिय रूप में मित्र, रुद्र तथा वरुण केवल चार ही नहीं, अपि तु इनके पीछे एक पूरा विश्व है। मितज्ञवः[2], रुद्राः[3] तथा वारुणाः[4] नाम से क्रमशः ये तीनों देव अनेक रूप हो गए हैं। ये तीनों देव वस्तुतः अग्नि के रूपान्तर[5] हैं और मानव-देह में अग्नि के समान ही प्राण[6] समझे जाते हैं। इन्हीं के रूपान्तरों को क्रमशः आदित्यों[7], मरुतों[8] एवं आंगिरसों[9] में देखा जा सकता है। ये सभी देव व्यष्टि-राष्ट्र (शरीर) में निवासी होने अथवा उसके वासयिता होने से 'वसवः[10]' कहे जाते हैं जो अपनी समस्त अनेकता को

---

१. वैदिक एटिमोलोजी पृ. १६१
२. युवां क्षेमस्य प्रसवे मितज्ञवः (ऋ० ७, ८२, ४) तु० क० क्षेमेण मित्रो वरुण दुवस्यति (ऋ० ७, ८२, ५)
३. वैदिक एटिमोलोजी पृ. १६२
४. तु. क. वरुणैः (अ० वे० ३, ४, ६)
५. अथ यत्रैतत्प्रतितरामिव तिरश्चीवार्चिः संशाम्यतो भवति हैष (अग्निः) भवति मित्रः (श० २, ३, २, १२)
अथ यत्रैतत्प्रथमं समिद्धो भवति। धूप्यतऽइव तर्हि हैष (अग्निः) भवति रुद्रः (श० २. ३, २, ६)
अथ यत्रैतत्प्रदीप्ततरो भवति तर्हि हैष (अग्निः) भवति वरुणः (श० २, ३, २, १०)
यदग्निर्घोरसंस्पर्शस्तदस्य वारुणं रूपम् (ऐ. ३, ४)
६. प्राणो मित्रः (श० ६, ५, १, ५; ८, ४, २, ६; १२, ६, २, १६)
प्राणाः वै रुद्राः (श० ११, ६, ३, ७)
यः प्राणः स वरुणः (गो० २, ४, ११)
व्यानो वरुणः (श० १२, ६, १, १६, अपानो वरुणः (श० ८, ४, २, ६; १२, ६, २, १२)
७. प्राणा वा आदित्याः प्राणा हीदं सर्वमाददते (जै० उ० ४, २, ६)
८. प्राणा वै मारुताः (श० ६, ३, १, ७) प्राणो वै मरुतः स्वापयः (ऐ० ३, १६)
९. सोऽयास्य वांगिरसः। अङ्गानां हि रसः प्राणो वा अंगानां रसः (श० १४, ४, १, २१)
अष्टौ आंगिरसः पुत्रा वारुणास्तेऽप्युदाहृताः (महाभारत उद्योगपर्व, ८५, १३०)
तु० क० तां० ब्रा० १३, ११, १४)
१०. प्राणा वै वसवः (जै० उ०, ४, २, ३) सर्वं वासयन्ते तस्माद्वसवः (श० ११, ६, ३, ६)

युगलता (जोड़ी) मात्र में परिणत करके वृहद् रूप में 'इन्द्रावरुणा महावसू'[1] तथा लघुरूप में 'अश्विनौ वसू'[2] कहे जाते हैं। दूसरी दृष्टि से, आदित्यों और आंगिरसों के समान ये वसु भी केवल आठ[3] बताए जाते हैं। यही सब देव व्यष्टि-राष्ट्र का भरण-पोषण करने से 'राष्ट्रभृत' कहे जाते हैं और अपनी भेंट 'राति' के रूप में उस महद् यक्ष को अर्पित करते हैं जो इसके भीतर विराजमान[4] है और जिसे ऊपर प्रजापति अथवा परमेष्ठी कहा गया है। इस राष्ट्र के विश्वरूप की कल्पना अथर्ववेद ९, ७ में गो (बैल) के रूप में करते हुए प्रजापति-परमेष्ठी को सींग, इन्द्र को शिर, सोम को मस्तिष्क तथा मित्र-वरुण को कंधों के रूप में धारण करने वाला कहा गया है; यह गो-रूप राष्ट्र विभिन्न स्थितियों में अग्नि, इन्द्र, धाता, सोम, सविता तथा मित्र है, सबकी समष्टि (युज्यमान) में वैश्वदेव तथा सर्व-विमुक्त रूप में प्रजापति है। अन्यत्र इसी को स्कम्भ (अ० वे० १०, ८) और उच्छिष्ट (अ० वे० ११, ८) के रूपक द्वारा चित्रित किया गया है और मानव-शरीर के समस्त अंगों, शक्तियों, अशक्तियों, गुणों, अवगुणों से लेकर उक्त सभी देवों का उसमें समावेश कर लिया गया है। इन वर्णनों की तुलना यदि प्राणसूक्त (अ० वे० ११, ४) से की जाय, तो स्पष्ट हो जाएगा कि स्कम्भ, उच्छिष्ट, प्रजापति आदि के विविध रूप वस्तुतः उक्त व्यष्टि-राष्ट्र के अन्तर्गत प्राण के ही रूपान्तर-मात्र हैं।

## समष्टि-राष्ट्र

उक्त व्यष्टि-राष्ट्र के देवता आदि कहाँ से आये, इस प्रश्न को वेद में बार बार (अ० वे० १०, २; ११, ४; १०, ८; ११, ८) दुहराया गया है और उसका उत्तर भिन्न-भिन्न होते हुए भी मूलतः एक ही है कि इन सबका स्रोत वही ब्रह्म, यक्ष, प्रजापति परमेष्ठी, उच्छिष्ट, स्कंभ आदि नाम से पुकारा जाने वाला ज्येष्ठ ब्रह्म है जिससे समस्त भूत और भव्य उद्भूत हुवा है और जिसके रूपान्तर-स्वरूप समस्त विश्व (हमारे भीतर और बाहर) के सभी देवता आदि विद्यमान होकर कार्य कर रहे हैं। अतः अ० वे० ११, ८ में जब प्रश्न

---

१. महान्ताविन्द्रावरुणा महावसू (ऋ० ७, ८२, २)
२. ऋ० १, १२०, १०७; १, १५८, १-२;
३. अष्टौ देवा वसवः सोम्यासः (तै० ३, १, २, ६; श० ११, ६, ३, ६)
४. महद् यक्षं भुवनस्य मध्ये तस्मै बलिं राष्ट्रभृतो भरन्ति (अ० वे० १०, ८, १५)

होता है कि मानव-व्यक्तित्व में देव (इन्द्रिय आदि शक्तियां) कहां से आये तो उत्तर मिलता है कि संकल्प के गृह (विज्ञानमयकोश) से; जब मन्यु (मनोमय कोश) जाया (विज्ञानमय से प्राप्त एकीभूत चेतना शक्ति) को लाया, तो जो देश देव-शरीर में एक साथ देवों (समष्टिगत देवों) से उत्पन्न हुए, वे प्राण अपान, चक्षु, श्रोत्र, अक्षिति, क्षिति, व्यान, उदान, वाक्, मन और आकूति हैं और इन्हीं के साथ इन्द्र, सोम, अग्नि, त्वष्टा, धाता आदि भी समष्टिगत इन्द्रादि से क्रमशः प्रादुर्भूत होकर शरीर में आए तथा इन सभी देवताओं के साथ मानव-देह में पापी देवता (पाप्मानो नाम देवताः) भी बुढ़ापा, चोरी, निन्दा आदि के रूप में प्रविष्ट होकर ऐसे रहने लगे जैसे गायें (गावः) गोशाला (गोष्ठ) में रहती हैं।

इस प्रकार व्यष्टि और समष्टि की तात्त्विक एकता ढूंढ लेने के पश्चात्, व्यष्टि-राष्ट्र के नमूने पर मानव-समाज के समष्टि-राष्ट्र की परिकल्पना भी संभव हो गई। मानव-व्यक्तित्व के समान ही मानव-समाज की समष्टि में रातियों और ऊतियों की आवश्यकता है और इन रातियों के देने वाले अनेक व्यक्ति (विशः) ही उस राष्ट्र-शरीर के अंग हैं। जिस प्रकार व्यष्टि-शरीर में विभिन्न अंगों की समस्त रातियों (देनों) को ब्रह्म, क्षत्र, वैश्य एवं शूद्र-नामक चार बड़ी श्रेणियों में विभक्त करके व्यष्टिगत पुरुष से उत्पन्न हुआ माना जा सकता है उसी प्रकार समष्टिगत राष्ट्र की रातियों को भी उक्त नाम की ही चार श्रेणियों में विभक्त करके समष्टिगत पुरुष से पैदा हुवा माना जा सकता था, और इन चारों का परस्पर वैसा ही अन्योन्याश्रय संबंध है जैसा शरीर में मुख (शिरोभाग), भुजाओं, जंघाओं तथा पैरों का है; इसीलिए प्रसिद्ध पुरुष-सूक्त[1] में ब्राह्मण को पुरुष का मुख, क्षत्रिय को बाहु, उरुओं को वैश्य तथा पैरों को शूद्र कहा गया है। व्यष्टि-शरीर में जो स्थान ओज और आकूति को प्राप्त है वही समष्टि-शरीर (मानव-समाज) में समृद्धि और क्षत्र[2] को प्राप्त कहा जा सकता है, और जिस प्रकार मानव की व्यष्टि में ऋत, सत्य, तप, श्रम, धर्म तथा कर्म-नामक छः तत्वात्मक 'राष्ट्र' माना जाता है, उसी प्रकार मानव-समष्टि में भी वह 'उर्वी' नामक छः तत्वात्मक (राष्ट्र षडुर्वी) माना जा

---

१. ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू यदस्य तद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत॥
२. समृद्धिरोजः आकूतिः क्षत्रं (अ० ११, ७, १८)

सकता था, क्योंकि वस्तुतः व्यक्ति का सत्य या धर्म ही तो समष्टिगत राष्ट्र के न केवल प्रत्येक व्यक्ति[१] में, अपि तु अश्वों, गायों, द्यावापृथिवी, यज्ञ आदि समस्त अंगों में भी प्रतिष्ठित हो जाता[२] है, और यही बात अन्य चार तत्वों पर भी लागू होती है। ऋत[३], तप[४], श्रम[५] और कर्म[६] समान रूप से व्यष्टि के समान समष्टि में भी प्रतिष्ठित माने गए हैं, परन्तु व्यष्टि-राष्ट्र के ऋतादि जब समष्टि-राष्ट्र के हो जाते हैं, तो वे विस्तृत हो जाते हैं, उतने विस्तृत जितनी कि राष्ट्र की समस्त पृथिवी; अतः तब व्यक्ति कह[७] सकता है कि मैं उतना उरु (विस्तृत) हूँ जितनी उर्वी यह पृथिवी है। यही कारण है कि उक्त छः तत्वों को 'षडुर्वी' (छः उर्वी) कहा गया है और जब अथर्ववेद के प्रसिद्ध पृथिवी-सूक्त (१२, १) में राष्ट्र-भूमि को धारण करने वाले छः तत्वों का उल्लेख किया गया है, तो 'बृहत्' विशेषण का प्रयोग किया है और हमारे अतीत तथा भविष्य की स्वामिनी 'पृथिवी' से प्रार्थना[८] की गई है कि वह हमारे लिए 'उरु' विस्तृत लोक का निर्माण करे, क्योंकि व्यक्तियों के सत्य, ऋत आदि छः तत्व वृहत् (विशाल) उरु होकर ही वे यथार्थ रूप में 'राति' होकर समूचे राष्ट्र की सम्पत्ति बन सकते हैं, अन्यथा व्यष्टि-केन्द्रित सत्य, ऋत आदि तो केवल स्वार्थ-परता, प्रान्तीयता तथा संकीर्णता को ही प्रोत्साहन देंगे। अतः राष्ट्रीयता के लिए परमावश्यक है कि व्यक्तियों के सत्य, धर्म आदि व्यक्तिगत अथवा वर्गगत संकीर्णता को त्याग कर राष्ट्रीयता की उदारता ग्रहण करें, जिसके उक्त छः तत्वों द्वारा धारण की हुई हमारी राष्ट्रभूमि अपने 'सत्य से आवृत अमृत हृदय'

---

१. धर्मोऽस्मि विशि राजा प्रतिष्ठितः (वा० सं० १, २०, ९)

२. प्रत्यंगेषु प्रतिष्ठामि (वही० १, २०, १०)

३. अयं (लोकः) एवर्त्तनिधनम् (ता. २१, २, ७)

४. तपाऽसि लोके श्रितम्।

५. यः श्रमात् तपसो जातो लोकान्त्सर्वान्त्समानशे। सोमं यश्चक्रे केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः (अ० १०, ७, ३६)

६. यज्ञो वै कर्म (श० १, १, २, १) तु० क० यो यज्ञः विश्वतस्तन्तुभिस्ततः एकशतं देव-कर्मभिरायतः (ऋ० १०, १३०, १)

७. यथेयं पृथिव्युर्व्येमुरुभूयासम् (श० २, १, ४, १८)

८. सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्मयज्ञः पृथिवी धारयन्ति।
सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्न्युरुं।

(सत्येनावृतममृत), उत्साह और बल को 'उत्तम राष्ट्र' (राष्ट्रे दधातु उत्तमे)[1] में प्रतिष्ठित कर सकें।

## समष्टि-राष्ट्र का स्वरूप

जैसा कि व्यष्टि-राष्ट्र के प्रसंग में कहा जा चुका है, राष्ट्र वस्तुतः रातियों (देनों) का संगम है और इन रातियों का अस्तित्व जन, भूमि तथा उससे सम्बन्धित अन्तरिक्ष और आकाश तथा भूमि के अन्तर्गत समस्त सम्पत्ति के संदर्भ से पृथक् नहीं सोचा जा सकता। अतः व्यष्टि और समष्टि के दोनों राष्ट्रों का स्वरूप समान है। उसके[2] विश्वरूप, सर्वरूप, गो-रूप में प्रजापति-परमेष्ठी, इन्द्र, यम, सोम, द्यौ, पृथिवी, अन्तरिक्ष, मरुत, वायु, बृहस्पति, मित्र, वरुण, अर्यमा, इन्दु, ब्रह्म, क्षत्र, धाता, सविता आदि सभी देवता तो आ ही जाते हैं। परन्तु इनके अतिरिक्त नदी, पर्वत, देश के (वर्षस्य) अधिकारी-गण,[3] पेड़-पौधे (औषधयः) नक्षत्र,[4] देवजन, मनुष्य, रक्षक, इतर जन और पशु आदि[5] आ जाते हैं।

## राष्ट्रभूमि और वैदिक देव

राष्ट्र की आधुनिक परिकल्पना से भी देश की भूमि तथा उसके नदी, पर्वत, जन आदि से सम्बन्ध होता है, फिर भी उक्त वैदिक देवताओं का राष्ट्र से सम्बन्धित होना अटपटा सा लगेगा, परन्तु अथर्ववेद में सुरक्षित परंपरा के अनुसार ये देव स्वयं पारिभाषिक शब्द हैं और राष्ट्र के स्वरूप के संदर्भ में, गोरूप राष्ट्र बैठे हुए (आसीन) रूप में अग्नि हैं, उठा हुआ (उत्थितः) अश्विनौ, प्राचीदिशा में स्थित हुआ इंद्र, दक्षिण में यम, पश्चिम में धाता, उत्तर में सविता, वनस्पतियुक्त (तृणानि प्राप्तः) सोम तथा चारों और देखता हुआ वर्तमान (ईक्षमाण आवृत्तिः) आनन्दस्वरूप मित्र देवता है। गो-रूप में राष्ट्र की कल्पना करते हुए जहाँ उसी राष्ट्र को आसीनावस्था में अग्नि कहा गया है, वहाँ पृथिवीसूक्त में (१२, १, १९–२१) मानों उसीकी व्याख्या-

---

१. यस्या हृदयं परमे व्योमन्त्सत्येनावृतममृतं पृथिव्याः।
सा नो भूमिस्त्विषिं बलं राष्ट्रे दधातूत्तमे॥ (१२, १, ८)

२. अ० वे० ९, ७।

३. नदी सूत्री वर्षस्य पतयस्तना स्तनयित्नुरूधः (वही १४)

४. विश्वव्यचाश्चर्मौषधयो लोमानि नक्षत्राणि रूपम् (वही १५)

५. देवजना गुदा मनुष्या आन्त्राण्यत्रा उदरम् (वही १६)
रक्षांसि लोहितमितरजना ऊवध्यम् (वही १७)

स्वरूप अग्नि (अर्थात् बैठे हुए गोरूप राष्ट्र) की स्थिति भूमि तथा उसकी औषधियों, जलों, पत्थरों, पुरुषों, गौओं, अश्वों, आकाश तथा अंतरिक्ष आदि सभी में बताई गई है। इसी प्रकार उठे हुए अश्विनौ को समझाते हुए एक मंत्र[1] में अश्विनौ द्वारा राष्ट्रभूमि को मापा गया बताया है। वहीं एक दूसरे मंत्र[2] के अनुसार, इन्द्र ने पृथिवी को शत्रुरहित किया। इसी बात को दूसरे रूप में व्यक्त करते हुए कहा गया है कि राष्ट्रभूमि ने इन्द्र को वरण किया, वृत्र को नहीं[3]। इसी प्रसंग में विष्णु[4] को भी इसी राष्ट्रभूमि में डग रखने वाला (विचक्रमे) कहा गया है और इसकी तुलना उन वैदिक प्रसंगों से की जा सकती है जिनमें विष्णु[5] को तीन डग रखने वाला (त्रेधोरुगायः) कहा जाता है और यज्ञ-रूप विष्णु को वसुओं, रुद्रों तथा आदित्यों द्वारा तीन सवनों में विभक्त[6] होते हुए तीन डग रखने वाला कहा गया है। (श० १, ९, ३, ९; १, १, २, १३) यदि ऋ० १०, १३० में उल्लिखित सैकड़ों देवकर्मों द्वारा फैलाए हुए कर्मतंतु के रूप में यज्ञ को यहां ग्रहण करें, तो यज्ञरूप विष्णु की राष्ट्रभूमि के साथ संगति बिठाने में कोई कठिनाई नहीं होती, क्योंकि इस प्रकार विष्णु की विक्रांति (लंबे लंबे डग रखना) को राष्ट्रीय कर्म अथवा राष्ट्रीय प्रयत्न की तीव्र गति कहा जाएगा। सम्भवतः इसी अर्थ में यज्ञ को ग्रहण करके पृथिवी (राष्ट्रभूमि) मात्र को यज्ञ-वेदी[7] कहा गया और उसकी माप विष्णुरूप यज्ञ के बराबर[8] मानी गई।

### सगन्धता, संवेश्यता और संस्कृति

राष्ट्रभूमि के इस आध्यात्मिक स्वरूप को पहचान कर ही अथर्ववेद ने मातृभूमि की वन्दना करते हुये, उसमें एक ऐसी सौन्दर्यमयी गन्ध देखी जो सच्ची राष्ट्रीयता की प्रतीक कही जा सकती है। प्रसिद्ध पृथिवीसूक्त के अनुसार राष्ट्रभूमि की सर्वतोमुखी विविधता में भी एक राष्ट्रीयता की 'गंध' है

---

१. यामश्विनावमिमातां (अ० वे० १२, १, १०)

२. इन्द्रो यां चक्र आत्मनेनमित्रां शचीपतिः (वही)

३. इन्द्रं वृणाना पृथिवी न वृत्रम् (वही, ३७)

४. विष्णुर्यस्यां विचक्रमे (वही, १०)

५. ऋ० १, १५४, १–३।

६. अथेमं विष्णुयज्ञं त्रेधा व्यभजन्त। वसवः प्रातःसवनं रुद्रा माध्यंदिनं सवनं आदित्यास्तृतीयं सवनम् (श० १४, १, १, १५)

७. यावती वै पृथिवी तावती वेदिः (तै० ब्रा० ३, २, ९, १२, श०ब्रा० ३, ७, २, १,

८. श० २, ५, ७, जै० उ० १, ५, ५, पृथिवी वेदि' (ऐ० ब्रा०) ५, २९, तै० ब्रा०

(यस्ते गन्धः पृथिवि) जो विभिन्न तत्त्वों के मेल से उत्पन्न हुई (संबभूव) और जो यहाँ के पेड़-पौधों में और जलों में, गंधर्वों और अप्सराओं (२३) में, पुरुषों और स्त्रियों में, अश्वों और वीरों में, तथा मृगों और हस्तियों में (२५) भी प्राप्त हो रही है। वैदिक कवि की कामना है कि राष्ट्रभूमि अपनी गंध से मुझे सुगंधित[1] कर दे। इस गंध का एक प्रतीक है कमल (पुष्करं) जिसमें वह चारों ओर से आकर प्रविष्ट[2] हो गई (आविवेश) और दूसरा है कन्या का 'वर्चस्' (कन्यायां वर्चो यद्)। कमल और कन्या दोनों कमनीय हैं, इनसे कोई द्वेष नहीं करता; अतः प्रार्थना है कि इनके गंध और वर्चस् से हम युक्त हों जिस कारण हम से कोई द्वेष न करे (मा नो द्विक्षत कश्चन २३-२५)। कमनीयता तथा द्वेषहीनता की यह गंध राष्ट्रीयता का प्राण है और इसी भावना को अथर्ववेद[3] में अन्यत्र 'संवनन' नाम देकर निम्नलिखित शब्दों[4] में चित्रित किया गया है—

'मैं तुम में सहृदय-सांमनस्य तथा द्वेषाभाव पैदा करती हूँ जिससे तुम परस्पर वैसे ही प्यार करो जैसे अघ्न्या (गाय) अपने बछड़े को करती है। पुत्र अपने पिता का अनुव्रती हो और माता के साथ एक-मन हो; पत्नी अपने पति से शान्तिदायक मधुमय वचन बोले। भाई भाई से द्वेष न करे, न बहिन बहिन से; तुम सब भाई-बहन कदम से कदम मिलाते हुये (सम्यञ्चः) एकव्रती हो कर परस्पर भद्र वचन बोलो; वह 'ब्रह्म-संज्ञान' मैं तुम्हारे घर में सभी व्यक्तियों के लिये पैदा करती हूँ जिसके बल पर देवता लोग एक दूसरे से अलग नहीं होते और न परस्पर द्वेष करते हैं। ज्येष्ठ जनों से युक्त तथा चित्तवान् होकर एक दूसरे को प्रसन्न करते हुये तथा संयुक्त रूप से उत्तरदायित्व को निभाते हुये, तुम परस्पर अलग-अलग मत होओ; एक दूसरे के प्रति प्रिय वचन बोलते हुये, तुम लोग इधर आओ; मैं तुम को सहगामी (सध्रीचीनान्) तथा संमनस (एकमन) बनाती हूँ। तुम्हारा प्याऊ (पानी पीने का स्थान) एक हो, तुम्हारा भोजन एक साथ हो; तुम उसी प्रकार सम्मिलित होकर अग्नि की उपासना करो, जैसे पहिये के आरे (डंडे) उसकी नाभि (गुंड) में एक साथ मिल जाते

---

१. यस्ते गन्धः पृथिवि संबभुव यं विभ्रत्योषधयो यमापः। यं गन्धर्वा अप्सरसश्च भेजिरे तेन मा सुरभि कृणु ॥२३॥

२. यस्ते गन्धः पुष्करमाविवेश (२४)।

३. अ० वे० ३, ३०।

४. अनुवाद के लिये देखिये ह्विटनेकृत 'अथर्ववेद'।

हैं। मैं तुम सब को एक सूत्र (एकश्नुष्टि), सहगामी और संमनस बनाती हूँ; तुम देवों के समान 'अमृत' की रक्षा करो, तुम सब में सायं प्रातः सौमनस्य रहे।'

### भावात्मक एकता

यह 'संवनन' ही वह वस्तु है जिसे आज हम 'भावात्मक एकता कहते हैं और जिसके लिये ऋग्वेद ने उपसंहार करते हुये घोषणा की थी—

संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम् ।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ।।
समानो मंत्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम् ।
समानं मन्त्रमभिमन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि ।।
समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः ।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ।।

'तुम एक साथ चलो, साथ-साथ बोलो और ठीक उसी प्रकार एक दूसरे के मन को जानकर 'संज्ञान' पैदा करो, जिस प्रकार पूर्व देव संज्ञानपूर्वक अपने 'भाग' को ग्रहण करते थे।'

'इनकी मन्त्रणा एक हो, समिति एक हो, मन एक हो और चित्त एक हो; मैं तुम्हें एक ही मंत्र देती हूँ; मैं तुम्हारी सम्मिलित (समानेन) हवि से हवन करती हूं।'

'तुम्हारी भावना एक हो, तुम्हारे सब के हृदय एक हों; तुम्हारा मन ऐसा एक हो कि वह तुम सब को 'सुसह' हो।'

### बृहद् राष्ट्र की संवेश्यता

इसी भावना के द्वारा अ०वे० ३, ८ के अनुसार, हमारा बृहद् राष्ट्र 'संवेश्य' (सब के लिए एक साथ रहने योग्य) बन सकता है, परन्तु शर्त यह है कि आप सब यहाँ (इसी उद्देश्य पर) ही रहें, इससे दूर (परः) न जायें; जो झुण्ड का स्वामी (पुष्टपति) गोपा हो, वह तुम सब को प्रेरित करे कि तुम सभी देवता लोग अपनी कामनाओं को इसी एक उद्देश्य (अस्मै कामाय) से अच्छी तरह मजबूती से जोड़ दो (उप संयन्तु); मैं तुम्हारे सबके मनों, व्रतों और भावनाओं को मोड़ कर एक करता हूँ (संनममसि); जो ये व्रतहीन खड़े हैं उन्हें भी मोड़ कर मैं तुमसे जोड़ता हूँ; मैं अपने मन में तुम्हारे मनों को मिलाता हूँ, मेरे चित्त के अनुसार तुम्हारे चित्त हों; मेरे वश में तुम्हारे हृदय हों; मेरे मार्ग का तुम सब अनुगमन करो।'

## राष्ट्रीय संस्कृति

राष्ट्र की उपर्युक्त संवेश्यता और सगन्धता की तुलना आजकल की 'राष्ट्रीय संस्कृति' नामक परिकल्पना से की जा सकती है। 'राष्ट्रीय संस्कृति' के पीछे जो भाव है उसको समझने के लिए सर्वप्रथम 'संस्कृति' शब्द पर विचार करके उसके पीछे संभावित पृष्ठ भूमि को जानना आवश्यक है, क्योंकि सामान्यतः यह समझा जाता है कि राष्ट्रीयता और संस्कृति की कल्पना हमें अंग्रेज और अंग्रेजी से मिली है तथा उससे पूर्व इस देश में ऐसी कोई भावना नहीं थी। यह मिथ्या धारणा हमारी उस मानसिक दासता की उपज है जो राजनीतिक स्वाधीनता के पश्चात् भी उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है।

'संस्कृति' शब्द आधुनिक युग में हमारे देश में अंग्रेजी के 'कल्चर' का पर्याय होकर आया, परन्तु सौभाग्य से उसका यह नया अर्थ उसके प्राचीन अर्थ से वस्तुतः भिन्न नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि इन दोनों शब्दों की मूल भावना का स्रोत एक ही है, यद्यपि उसकी विस्मृति के कारण आज इन दोनों शब्दों के अर्थों को स्पष्टतः समझना कठिन है। यही कारण है कि स्वयं योरोपीयन लेखक संस्कृति (कल्चर) की मीमांसा करते हुए कोई स्पष्ट परिभाषा नहीं दे पाए हैं। टाइलर के अनुसार 'संस्कृति और सभ्यता एक ही है और उसके भीतर मनुष्य-नामक सामाजिक प्राणी के समस्त ज्ञान, कानून, नीति, रस्म-रिवाज, अर्हता तथा आदत का समावेश हो सकता है।' अतः मैलिनाउस्की और लिंटन की राय में 'संस्कृति मनुष्य की सामाजिक बपौती (विरासत) है। बिट्स उसे 'समस्त उपार्जित व्यवहार' तथा लाबी उसको 'सामाजिक परम्परा का समुच्चय' कहता है। ओस्वाल्ड स्पैंग्लर का मत है कि 'संस्कृति और कुछ नहीं, केवल सभ्यता की चरमावस्था है।' मैकाइबर सभ्यता को यांत्रिक व्यवस्था मानते हैं जो उपयोगिता-परक होती है, जबकि संस्कृति को वे मूल्यपरक व्यवस्था कहते हैं जो सभ्यता से कई अर्थों में भिन्न पड़ती है। टवाइनवी संस्कृति के लिए सभ्यता-शब्द का प्रयोग करते हैं, परन्तु उसे यांत्रिक व्यवस्था से भिन्न मानते हैं। टी. यस. इलियट, कार्ल-माकस तथा आर्टीगा वाई गैसेट विभिन्न दृष्टियों से इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि संस्कृति का संबंध विशिष्ट वर्गों और विशिष्ट मान-दंडों से होता है, परन्तु वे भी संस्कृति की स्पष्ट परिभाषा देने तथा सभ्यता के साथ उसके सबंध बताने में असमर्थ रहे हैं।

वस्तुतः संस्कृति एवं कल्चर शब्दों की जिस मूल-भावना की ओर यहां संकेत किया गया है उसको जाने विना ये सभी प्रयत्न अंधेरे में टटोलने के के समान हैं। सभी विद्वानों ने बड़े परिश्रम से सांस्कृतिक कहे जाने वाले तथ्यों का वैज्ञानिक विश्लेषण करके संस्कृति की परिभाषा देने की कोशिश की है परन्तु वे स्पष्ट रूप से कहने में असमर्थ से लगते हैं। अतः उक्त मूल-भावना को जानना आवश्यक है, उसका स्रोत पुरातन इतिहास के गर्भ में छिपा है जिसकी कुछ-कुछ झलक प्राचीन साहित्य में प्राप्त हो सकती है। सभी आधुनिक विद्वान् इस बात से सहमत हैं कि मानव-जाति का प्राचीनतम साहित्य वैदिक साहित्य है और उसमें भी सर्वाधिक पुरातन ऋग्वेद है। इसीलिए संस्कृति के मूल स्वरूप को समझने और उसकी परिभाषा उपस्थित करने के लिए ऋग्वेद से प्रारम्भ करना होगा। ऋग्वेद से प्रारम्भ करना इसलिए और भी उपयोगी है कि उसमें कोई साम्प्रदायिक आग्रह अथवा संकीर्णता नहीं है।

यद्यपि ऋग्वेद में संस्कृति-शब्द का प्रयोग कहीं नहीं हुआ है, परन्तु वहाँ संस्कृत-शब्द तीन स्थानों पर आया है। इनमें से एक सूक्त में 'संस्कृतस्थानं' (संस्कृतत्र) का उल्लेख है जो निस्संदेह संस्कृति का स्रोत माना जा सकता है। मनुष्य की जो वृत्तियां संस्कृत होती हैं उन्हें इस संस्कृतत्र (संस्कृत स्थान) की अपेक्षा नहीं होती, इन संस्कृत वृत्तियों को ऋग्वेद के इस सूक्त में 'दूध देने वाली उषाएँ और गाएँ' कहा गया है जो मानव के अन्तस्थलरूपी गोष्ठ (बाड़ा) में कल्याण एव आनन्द की सृष्टि करती हैं। इस सूक्त का अनुवाद यहाँ दिया जा रहा है, क्योंकि यह ऐसा लगता है मानो संस्कृति और सभ्यता के भेद को बतलाने के लिए लिखा गया हो—

१. गायें आवें कल्याण करें, अस्मिता-गोष्ठ में बैठ रमें।
संतानवती बहुरूप उषायें, सभी इंद्र को दूध दुहें॥
२. इंद्र यज्ञकर्ता दाता को, दाता नहीं स्वहर्ता।
अधिकाधिक रयि का वर्धक, अद्वैत तत्व का धाता॥
३. इन गायों से यजन दान, जो देवों को करता है।
वह गोपति इन गायों का, शाश्वत सेवन करता है॥
ये गायें अविनाशी इनको, तस्कर शत्रु न पाता।
४. संस्कृतत्र इनको न अपेक्षित, इनको रेणुककाट न खाता॥
इनका गोपतियज्वी मानव, 'अभय' प्रशंसित पाता॥

५. ये गायें भग, यही इंद्र, ये प्रथम सोम का भक्षण।
ये गायें ही इन्द्र इन्हीं का, वांछित मानस दर्शन ।।
६. ये गायें मेरे कृश चित को, करें स्वस्थ सुंदर कुत्सित को।
भद्रवाक ये गृह को करके, देवें 'बृहद्' सभा को ।।

मनुष्य की ये वृत्तियां रूपी गायें नाना प्रकार की होती हैं और इनके दूध से मनुष्य की आत्मा (इंद्र) का पोषण होता है। इससे पुष्ट होकर आत्मा मानव-व्यक्तित्व की आध्यात्मिक संपत्ति को अधिकाधिक बढ़ाकर उसे एक स्तर पर पहुंचा देती है जो खण्डनीय होते अखण्ड हो जाता है, जिसके फल-स्वरूप उक्त गायें (वृत्तियां) अजर-अमर होकर अपने गोपति (मानव) की सेवा करती हैं और वह मानव बहुप्रशंसित 'अभय' पद प्राप्त करता है। इस अभय-पद पर पहुँच कर वृत्तियां रूपी गायें श्रेष्ठतम आनन्द (सोम प्रथम) का ग्रास बन जाती हैं और श्रेष्ठतम आनंद या सोम आत्मा (इंद्र) के पेट में चला जाता है अतः वे वृत्तियां जिन्हें ऊपर गायों और उषाओं के रूप में माना गया है वे अब आत्मा (इंद्र) रूप में परिणत हो जाती हैं वहीं चिदात्मा जिसे हम अपने हृदय और मन द्वारा जानने की इच्छा करते हैं। अतः उक्त वृत्तियाँ रूपी गायों से कामना की जाती है कि वे मानव दुर्बल चेतना को पुष्ट करें, असुंदर चेतना को सुंदर बनावें और अपनी कल्याणकारिणी अभि-व्यक्ति से एक भद्रगृह (कल्याण निकेतन) का निर्माण करें जिससे उनके 'बृहद्वय' को सभाओं में व्यक्त किया जा सके।

ऋग्वेदीय सूक्त के उक्त सारांश से स्पष्ट है कि मानव की संस्कृत वृत्तियां दुर्बल चेतना को सबल और असुंदर चेतना को सुन्दर बना कर एक भद्र गृह का निर्माण करती हैं। यही संस्कृति है। इसी के 'बृहद्वय' को जब सभाओं में व्यक्त किया जाता है तो वह सभ्यता बन जाता है। दूसरे शब्दों में व्यक्तियों की चेतना को सबल और सुंदर तथा गृह अथवा परिवार को 'भद्र' (कल्याण-मय बनाने वाली मानव-वृत्तियों और प्रवृत्तियों की संहति का नाम संस्कृति है, जब कि उन्हीं के सभाओं में व्यक्त किए जाने वाले सामाजिक एवं दूरगामी एवं स्थूलतर स्वरूप (बृहद् वय) को सभ्यता कहा जा सकता है। उक्त संस्कृति से मानव के 'संस्कृत' व्यक्तित्व का निर्माण होता है। यह संस्कृति जिन मानव-वृत्तियों की संहति है उसके दो तत्व हैं जिन्हें महर्षि अरविंद की भाषा में प्रकाश और शक्ति कहा जा सकता है। इन्हीं दोनों की कल्पना ऋग्वेद ने इन्द्र (आत्मा) के दो अश्वों के रूप में की है और इन्हीं को दो संयुक्त देव-

ताओं (अश्विनी) के रूप में माना गया है। जब ये दोनों पूर्णतया चले जाते हैं तो मानव का 'संस्कृत व्यक्तित्व' नष्ट हो जाता है, और जब ये मानव के हृदयाकाश में प्रवेश करते हैं तो उक्त वृत्तियां रूपी 'उषाओं' का चेहरा प्रकाशित हो जाता है और दिव्य वाणियों का अस्तित्व प्रकट हो जाता है। इन्हीं दोनों की नूतन सहायता से हम आनंदमय सन्मार्ग को अपनाते हैं और यही दोनों हमारे लिए अमृत सौभाग्य, वीर्य और धन लाते हैं जो निःसंदेह भौतिक न होकर आध्यात्मिक हैं। इसी आध्यात्मिक उपलब्धि से सबल होने पर ही आत्मा (इंद्र) ऋग्वेद में 'सबल केन्द्रीभूत, स्थिर तथा रण के निमित्त संस्कृत' कहा जाता है, इस अवस्था में आत्मा को ढूंढना नहीं पड़ता; वह अनावृत होकर अमृत-वर्षा करने लगता है और उस अभय-पद की सृष्टि करता है जिसको वेदों में 'स्वर्वतीरभयं स्वस्ति' कहा जाता है और जिसके लिए अथर्ववेद में इस प्रकार प्रार्थना की गई है 'तुम मुझे उस उरु लोक को ले चलो जो स्वः, ज्योति, अभय और स्वस्ति कहा जाता है—हम पीछे से अभय हों, आगे से अभय हों, ऊपर से अभय हों। हमें मित्र से अभय हो, अमित्र से अभय हो, ज्ञात से अभय हो और जो सामने है उससे अभय हो। हमें रात-दिन अभय प्राप्त हों और सभी दिशायें मेरी मित्र हों। यही सुख की पराकाष्ठा ह परमानन्द अथवा स्वस्ति की स्थिति है जो संस्कृति का चरम लक्ष्य है। इसी को वैदिक भाषा में 'अरंकृति' भी कहा जाता है। यही परम सौंदर्य की उत्कृष्टतम अनुभूति है जिसे वैदिक एवं पौराणिक प्रतीकवाद में सोमपान अथवा अमृतपान कहा गया है।

उक्त प्रतीकवादी शैली को छोड़ कर यदि साधारण भाषा में कहा जाय, तो ऋग्वेद के अनुसार संस्कृति के अंतर्गत मानव की वे वृत्तियां, प्रवृत्तियां तथा क्रियायें आती हैं जिनमें मानवीय प्रकृति सबल, स्वस्थ और सुन्दर होकर मानव को पूर्ण अभय की प्राप्ति के लिए अधिकाधिक योग्य बना सकें। पूर्ण अभय की प्राप्ति मानव-मात्र की मांग है, क्योंकि प्रत्येक मानव अनेक प्रकार के शत्रुओं से भयभीत है। ये शत्रु मनुष्य, पशु, वस्तु आदि बाह्य-जगत् के हो सकते हैं और चिन्ता, कुण्ठा, निराशा आदि आन्तरिक-जगत् के भी। इन दोनों से जिस अभय को खतरा है वह आन्तरिक वस्तु है और उसकी प्राप्ति के लिए आदर्श व्यवस्था तो यह होती कि बाह्य-जगत् के सभी मनुष्य, पशु, वस्तु आदि मानव से मित्र भाव रखते होते और उसे किसी अभाव, दुर्भाव अथवा अप्रिय भाव से पीड़ित न होना पड़ता, परन्तु वास्तविकता इससे विपरीत है।

इसलिए प्रत्येक मनुष्य को अपने आंतरिक एवं वाह्य शत्रुओं से जूझना पड़ता है—जीवन के अभावों, दुर्भावों एवं अप्रिय भावों से लोहा लेना पड़ता है—और तृष्णाओं, कुण्ठाओं तथा चिंताओं से संघर्ष करना पड़ता है। इस संघर्ष में विजयी होने के लिए और उसके घातक प्रभावों से यथासंभव वचने के लिए, मानव सदा से प्रयत्न करता आया है। कला, साहित्य, दर्शन, आचार-शास्त्र, उपासना, कर्मकाण्ड, खेलकूद, मनोविनोद आदि इसी मानवीय प्रयत्न के परिणाम हैं। ये सब संस्कृति के अंग हैं जिनकी सापेक्षिक सफलता इसी पर निर्भर है कि वे मानव को अभय की कितनी मात्रा प्रदान करते हैं और कितने समय तक।

संस्कृति के ये सभी अंग और उपकरण मूलतः व्यक्ति की उस साधना से उद्भूत एवं पोषित होते हैं जिसे वह कुटुम्ब की देख-रेख में करता है। इसी कुटुम्ब को ऋग्वेद में 'गृह' कहा है। आधुनिक विचारक टी. एस. इलियट भी संस्कृति-सृजन के कार्य में कुटुम्ब के इस दायित्व को स्वीकार करता है। उसका कहना है कि 'जब कुटुम्ब अपने इस कार्य को बंद करके संस्कृति-संप्रदान से विरत हो जाता है, संस्कृति का पतन होने लगता है।' कुटुम्ब या गृह में भी इसका केन्द्र गृहिणी है। अतः मनु का कहना है कि गृहिणी ही वस्तुतः गृह है। शतपथ-ब्राह्मण में इसी तथ्य को एक कहानी द्वारा व्यक्त किया गया है। देवासुर-संग्राम में असुर निरंतर हार रहे थे, तो उनके गुरु ने कहा कि 'देवों की वार्त्रघ्नी वाक् को जब तक तुम नष्ट नहीं करते, तब तक तुम्हारी विजय नहीं होगी।' वार्त्रघ्नी वाक् मनु के वैल आदि में घुसती रही और असुर लोग उसका विनाश करने के लिए बैल आदि को नष्ट करते रहे, परन्तु अन्त में वह मनु की पत्नी में प्रविष्ट हो गई जहां वह सुरक्षित हो गई और देवों की शाश्वत विजय का कारण बन गई। वार्त्रघ्नी वाक् का अर्थ है वृज (आंतरिक और बाह्यशत्रु) को हनन करने वाली शक्ति जो वस्तुतः वही संस्कृति है जो कुटुम्ब के सीमित क्षेत्र में उपजती, पनपती है और सुरक्षित रहती है।

संस्कृति का यह सूक्ष्म रूप जब सभाओं के माध्यम से व्यक्त होता है तो वह 'वृहद' रूप ग्रहण करके 'सभ्यता' कहलाता है। सभ्यता के रूप में संस्कृति का केवल आकार ही बदलता हो, ऐसी बात नहीं; आकार के साथ-साथ उसमें गुणात्मक परिवर्तन भी हो जाता है, क्योंकि जिस कौटुम्बिक क्षेत्र में संस्कृति का जन्म होता है उसमें उस सांमनस्य सहृदयता, समान-मन्त्रणा, समान

व्रत, समान-प्रयत्न आदि की सम्भावना अधिक होती है जिसको वेद में 'समिति' अथवा 'संवनन' की भावना कहा गया गया है, परन्तु इसके विपरीत समाज के वृहत् क्षेत्र में पहुँच कर, इस भावना की उत्तरोत्तर कमी हो जाती है। यह स्वाभाविक है, क्योंकि, जैसा कि एक आधुनिक विचारक ने कहा है, 'मनुष्य अपने व्यक्तिगत रूप में सदाचार का पक्ष लेना चाहता है, जब कि समाज ऐसी परिस्थितियां पैदा करता है जिनमें वह दुराचारी बन जाता है।' समाज में जिस भावना की प्रधानता होती है वह कुटुम्ब की 'समिति' अथवा 'संवनन' से विपरीत 'सभा' भावना है, जिसका शाब्दिक अर्थ है 'एक साथ चमकने की भावना'। इसके वशीभूत होकर, समाज के सभी व्यक्ति चमकना तो चाहते हैं, परन्तु उसके लिए जो त्याग, तपस्या और बलिदान की आवश्यकता होती है, उसमें भाग लेने के लिए सभी में स्वाभाविक प्रेरणा नहीं होती, क्योंकि समाज के अन्तर्गत व्यक्तियों में वह निकटता एवं स्वाभाविक संबंध संभव नहीं जो कुटुम्ब में होता है। अतः समाज को बल-प्रयोग द्वारा वही कौटुम्बिक वातावरण पैदा करने के लिए राज्य और राजदण्ड की सृष्टि करनी पड़ती है; परन्तु जो काम कुटुम्ब के भीतर पारस्परिक प्रेम, त्याग और सेवा के वातावरण में होता है वह क्या कभी बल-प्रयोग से संभव है। इसीलिए आधुनिक युग के दो महान् विचारक मार्क्स और गाँधी दो भिन्न विचारधाराओं के जन्मदाता होते हुए भी अपनी आदर्श समाज-व्यवस्था में दोनों ही राज्य के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते। परन्तु यदि एक देश के भीतर व्यक्ति-व्यवहार पर सामाजिक नियन्त्रण रखने के लिए राज्य की आवश्यकता को किसी प्रकार दूर भी किया जा सके, तो भी जब तक विश्व विभिन्न देशों, राष्ट्रों और राज्यों में बँटा हुआ है, तब तक क्या किसी भी देश के लिए राज्य और राज्य-दण्ड के बिना कार्य चलाना सम्भव हो सकेगा ?

अस्तु, इसमें कोई सन्देह नहीं कि कुटुम्ब-कन्या-संस्कृति जब समाज के हाथ में जाकर सभ्य बनती है, तो उसे अपनी मूलभूत चेतना खोकर जड़ता को अङ्गीकार करना पड़ता है और समाज की यांत्रिक व्यवस्था में उसे राज्य दरबार की नर्तकी होकर नाचना पड़ता है। यहाँ आकर संस्कृति के विभिन्न अंग और उपकरण—कला, साहित्य, दर्शन, विज्ञान, आचारशास्त्र आदि—व्यक्ति के स्वान्तःसुखाय अथवा कल्याणार्थ प्रयुक्त न होकर, राजसत्ता की चापलूसी एवं पैसे की कमाई के लिये काम आते हैं। यह सच है कि संस्कृति का यह सभ्यता-रूप ही 'वृहद्' आकार और दीर्घ जीवन प्राप्त करने के लिए राज्य

का आश्रय तथा समाज का संबल प्राप्त करता आया है, परन्तु यह भी सच है कि इस सभ्यता के वही अङ्ग और उपकरण इतिहास में जीवित रह पाए हैं, जिनमें संस्कृति की मूलभूत चेतना पर्याप्त मात्रा में सुरक्षित रह सकी है और जो इसी कारण मानव-कल्याण के लिए अधिक उपयोगी अथवा मूल्यवान् सिद्ध हो सकी है। अतः यह परमावश्यक है कि संस्कृति की मूलभूत चेतना सभ्यता-रूप ग्रहण करने पर भी अपने स्वाभाविक रूप को न केवल अक्षुण्ण रखे, अपितु उसको और उत्कृष्ट बना सके; परन्तु यह तभी संभव है जब समाज भी एक कुटुम्ब बन जाए, वहां भी व्यक्तियों के बीच वही सांमनस्य, सौहार्द अथवा संवनन-भावना हो जो कुटुम्ब के सदस्यों के बीच होती है। इस आदर्श को पूर्ण रूप से प्राप्त करना सम्भव नहीं, परन्तु इसका अधिकाधिक रूप ग्रहण करने का प्रयत्न करना चाहिए। यह प्रयत्न विधान-सभाओं, सरकारी दफ्तरों अथवा विश्वविद्यालयों से अधिक कुटुम्ब के भीतर करना है। कौटुम्बिक जीवन की प्रतिष्ठा और गार्हस्थ्य जीवन की पवित्रता को स्थापित करके ही उस त्याग तपस्या और कर्त्तव्य-निष्ठा के वातावरण को लाया जा सकता है, जिसमें व्यक्ति अपनी वृत्तियों, प्रवृत्तियों एवं क्रियाओं को स्वस्थ, सबल एवं सुन्दर बना कर समाज में स्वस्थ, सबल तथा सुन्दर वृत्तियों, प्रवृत्तियों क्रियाओं को प्रोत्साहन दे सकता है, अपने स्वार्थ को तिलाञ्जलि देकर भी उन्हें पनपा सकता है। ऐसी अवस्था में ही, सभ्यता संस्कृति के निकट पहुँच सकती है, अन्यथा सभ्यता संस्कृति का ध्वंसावशेष-मात्र है।

अतः संक्षेप में, संस्कृति अपने प्रकृत-रूप में मानव की वृत्तियों, प्रवृत्तियों और क्रियाओं की वह अभयदायिनी अभिव्यक्ति है जो कुटुम्ब के सांमनस्यपूर्ण एवं संववनशील वातावरण में उत्पन्न होकर व्यक्ति और कुटुम्ब को भद्रता तथा शिष्टता प्रदान करती है। यही संस्कृति समाज के हाथों में जाकर अपने सूक्ष्म रूप को बृहदाकार करती है और अपने जन्मस्थानीय सांमनस्यपूर्ण एवं संवननशील वातावरण के अभाव में अपने प्रकृत-रूप को विकृत करके सभ्यता के नाम से जानी जाती है। सभ्यता की सफलता इसी में है कि वह अपनी विकृति को न्यूनतम करती हुई संस्कृति के प्रकृतभाव को प्राप्त करे। इस दिशा में शत-प्रतिशत सफलता तो संभवतः आकाश-पुष्प के समान एक कल्पना की वस्तु ही रहेगी, परन्तु फिर भी अधिकांश सफलता की प्राप्ति के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहना तो मानव-जाति का कर्त्तव्य होना ही चाहिए।

## आर्य और द्रविड़ नस्लों की कपोलकल्पना

संस्कृति के उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भारत ने वैदिककाल से ही एक ऐसी संस्कृति की सर्जना की थी जो मानव मात्र की एकता पर अवलंबित थी। विश्व के प्राचीन वाङ्मय में भारत को वेदों ने ही सर्वप्रथम 'विश्व-मानुष' और 'विश्वमानस' की कल्पना प्रस्तुत की तथा समाज में समान-मन्त्र, समान मन, समान हृदय, समान प्रथा तथा समान अन्नभाग के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करके एकता तथा समानता का संदेश दिया था। यही कारण है कि इस देश में कभी भी मनुष्य के रूप-रंग, वेश-भूषा, बोल-चाल, नस्ल-जाति, रस्म-रिवाज, दीन-धर्म आदि के भेद-भाव को कभी स्वीकार नहीं किया गया, अपितु शुद्ध मानवता की दृष्टि से इस देश के सभी निवासियों को 'भारत-जन' भारतीय-प्रजा अथवा भारतीय संतति कहा गया; परन्तु खेद है कि आधुनिक विद्वानों ने मानव-संस्कृति एवं इतिहास के अध्ययन में नस्लवाद का समावेश करके इस देश में भी भयंकर फूट के बीज बो दिए हैं। जिसके परिणाम स्वरूप इस देश की भाषा, मज़हब, संस्कृति, दर्शन, इतिहास, साहित्य एवं राजनीति को भी आज नस्लवादी वाले भेदभाव के आधार पर देखा जा रहा है। इस प्रसंग में सबसे अधिक महत्त्व आर्यों एवं द्रविड़ों के भेदभाव को दिया जा चुका है और विदेशियों की प्रेरणानुसार भारतीय संविधान में भी 'आदिवासी' नाम को अपना कर कुछ जातियों को इस देश के मूल निवासी तथा अन्यों को विदेशी कहे जाने के लिए एवं इस आधार पर एक नये नस्लवादी संघर्ष के लिये बीज वपन कर दिया गया है।

जहाँ तक आर्य और द्रविड़ नस्लों का प्रश्न है अधिकारी विद्वान् मान चुके हैं कि इस नाम की कोई नस्लें नहीं हैं। श्री बाशम[1] का कहना है कि द्राविड़ और आर्य नाम की कोई नस्ल नहीं है तथा प्रसिद्ध इतिहासकार प्रोफेसर नील-कंठ शास्त्री का मत है कि ऐन्थ्रापोलोजी के वैज्ञानिक अध्येताओं को आर्य तथा द्राविड़ नाम की किसी भी नस्ल का पता नहीं[2] है। कलकत्ता विश्वविद्यालय

---

1. A. L. Basham 'Some Reflections on Dravidians and Aryans' published in "Bulletin of the Institute of Historical Research" II, (1963) Madras pp 225–34.
2. Cultural Contacts between Aryans and Dravidians p. 9.

में फिजिकल ऐन्थ्रापोलोजी के प्रोफेसर श्री शशांकशेखर[1] सरकार का कथन है कि 'आर्य और द्राविड़ भाषापरिवारों के नाम हैं, परन्तु प्रायः उनका प्रयोग नस्ल के अर्थ में हुआ है और अब भी हो रहा है।' यद्यपि अंग्रेजी भाषा को आर्य नस्ल (Aryan race) का मन्त्र मैक्समूलर ने ही सर्वप्रथम दिया था, परन्तु उसके दुष्प्रयोग को देखते हुये उन्होंने स्वयं कहा[2]—'आर्य शब्द का प्रयोग नस्ल के लिये सर्वथा अनुपयुक्त है।'

## विद्वानों का नस्लवादी दृष्टिकोण

आर्य तथा द्राविड़ नस्लों के अस्तित्व को अस्वीकृत किये जाने पर भी भारतीय इतिहास एवं संस्कृति के अध्ययन में इसी नस्लवाद का निरन्तर आश्रय लिया जा रहा है। तदनुसार डा. यन. वी. तीर्थ[3] 'नेशनल इंटीग्रेशन' नामक पुस्तक में भी भारतवर्ष को अन्य नस्लों के साथ-साथ इंडो-आर्यन तथा द्राविड़ नस्लों के क्षेत्र में विभाजित करते हैं। इसके अनुसार पंजाब, राजपूताना और काश्मीर में आर्य नस्ल के लोग हैं तथा मद्रास, आंध्र, केरल, मध्यप्रदेश, उड़ीसा तथा मैसूर द्राविडों का क्षेत्र है। यह तो १९६४ में प्रकाशित पुस्तक की बात है, परन्तु इसके पूर्व कम से कम ७५ वर्ष से ही यह पांडित्यपूर्ण नस्लवाद चलता रहा है। उदाहरण के लिए मैं जगदम्बा या देवी की कल्पना-विषयक मार्शल के विचारों को यहां पर उद्धृत करता हूं—'मोहेनजोदड़ो एण्ड इन्डस् सिविलिजेशन' नामक अपने ग्रंथ में, मार्शल ने देवियों की चर्चा करते हुए कहा है कि **'भारतवर्ष की अनार्य जनता के राष्ट्रीय देवताओं में उनका महत्वपूर्ण** स्थान था। इसका प्रमाण एक तो यह है कि आदिम-जातियों में देवी-पूजा अत्यधिक लोकप्रिय है और दूसरा यह है कि इन लोगों के कर्मकाण्ड और उत्सवों में ब्राह्मण लोग भाग नहीं लेते, अपितु पुरानी जातियों के वे निम्न-श्रेणी के लोग भाग लेते हैं जो देवियों को **प्रसन्न** करने की क्षमता रखने वाले माने जाते हैं।'

यहां मैं पाठकों का ध्यान मार्शल के उन उपर्युक्त शब्दों की ओर आकर्षित करना चाहता हूँ जिनको स्थूलाक्षरों में लिखा गया है। इन शब्दों से स्पष्ट है कि मार्शल तथाकथित आदिम-जातियों के मस्तिष्क में एक ऐसे पृथक्

---

1. The Cultural Heritage of India p 17
2. Max Muller, Collected works, New Impressions. 1808, Vol. X. p-90
3. N.V. Tirtha, National Integration p. 9

राष्ट्र की कल्पना को भरना चाहते थे जो आर्यों से भिन्न हो और मार्शल की सम्मति में केवल ब्राह्मणों को ही आर्य समझा जाना चाहिए। मार्शल के इस प्रयत्न की तुलना बिशप काल्डवेल की उस चाल से की जा सकती है जो उन्होंने अपनी 'कम्परेटिव ग्रामर ग्राव द्रविडियन लेंग्वेजेज' में चली है। काल्डवेल का कहना है कि 'यदि हम तामिल-भाषा से सभी संस्कृतमूलक शब्दों को निकाल दें तो जो आदिम द्राविड़ शब्द रह जाते हैं उनसे हमें शुद्ध अनार्य द्राविड़ों के जीवन का चित्र मिल जाता है......। आदिम तामिल के शब्दकोश का यह संक्षिप्त उदाहरण उस समय का है जब कि ब्राह्मण लोग नहीं आये थे और इससे स्पष्टतः प्रमाणित होता है कि द्राविड़ों में सभ्यता के तत्त्व उस समय भी मौजूद थे।' कॉल्डवेल के इन शब्दों पर टीका करते हुए प्रसिद्ध इतिहासकार पंडित नीलकण्ठ शास्त्री ने ठीक ही कहा है कि 'अपनी इस वैज्ञानिक कृति में ब्राह्मण शब्द को आर्य-शब्द के अर्थ में प्रयुक्त करके कॉल्डवेल ने आजकल की उस पद्धति को आधार प्रदान कर दिया है जिसके अनुसार आर्य, ब्राह्मण, संस्कृत तथा उत्तर भारत को एक माना जाता है और जिसके फलस्वरूप वर्तमान काल में अनेक सामाजिक तथा राजनीतिक गड़बड़ियां उपस्थित हो गई हैं।' मार्शल और कॉल्डवेल की परम्परा में ही कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के विद्वान् एफ. आर. अल्विन के उस वक्तव्य को लिया जा सकता है जो उन्होंने अप्रैल ६, १९६९ के 'हिन्दुस्तान टाइम्स' में प्रकाशित कराया। सिन्धु-लिपि पर प्रकाशित अद्यतन शोधों का उल्लेख करते हुए यह विद्वान् कहता है कि 'आर्यन हल ढूंढने के लिए जो सरगर्मी दिखाई जा रही है उसको देखते हुए यदि कोई द्रविड़ियन हल सही भी हो तो भी उत्तरी भारत में सम्भवतः बहुत जोरदार और लम्बा विरोध होगा और शायद इसके विपरीत दक्षिण भारत में होगा'।

मार्शल, कॉल्डवेल और अल्विन ने अपने प्रकाण्ड पांडित्य की आड़ में जिस आर्य-द्रविड़-भेदभाव को पनपाने में योग दिया है, उसी का समर्थन मुझे रेवरेन्ड फादर हैरास की कृतियों में मिला। नस्लवाद के उसी प्रभाव में सोचते हुए, फादर हैरास ने आत्मा, कर्म, पुनर्जन्म, ब्रह्म-साक्षात्कार तथा तपस्या के तथाकथित पाँच नये विचारों को मूलतः द्राविड़ माना है। प्रोफेसर नीलकण्ठ शास्त्री फादर हैरास के इस मत पर टिप्पणी करते हुए कहते हैं कि—'आदिस्रोत के सभी प्रश्नों को ठीक-ठीक सुलझाना बहुत कठिन बात है और यह सभी लोग जानते हैं कि जिन नये विचारों को फादर हैरास ने यहाँ शुद्ध रूप से द्राविड़-

मूलक माना है, उनको अन्य स्रोतों से अथवा आर्यों तथा आर्य-पूर्व कल्पनाओं एवं प्रथाओं का परिणाम माना गया है और उनका यह कहना कि ऋग्वेद के एकेश्वरवादी मन्त्र बाद में जोड़े गये हैं, वास्तविक कठिनाई को दूर करने का बहुत सरल उपाय है, परन्तु यह विश्वास-योग्य नहीं। न तो यह सम्भव ही है और न आवश्यक ही है कि तथाकथित पाँच नये विचारों के उद्भव पर विस्तार से चर्चा की जाये, परन्तु इन प्रश्नों की जटिलता को हृदयङ्गम कराने के लिये उक्त विचारों में से सर्वप्रथम और सर्वाधिक महत्त्व-पूर्ण आत्मा के प्रश्न पर संक्षिप्त चर्चा की जा सकती है। हैरास का कहना है कि यह शब्द अतम्-आण् से निकला है जिसका अर्थ पाताल का स्वामी होता है। इस प्रसङ्ग में उनका तर्क है कि यह शब्द जब संस्कृत में आया तो इसके द्वितीय ह्रस्व अकार का लोप हो गया और इस लोप के स्वाभाविक परिणामस्वरूप प्रथम अकार दीर्घ होने से आत्मन् शब्द बन गया। वे यह नहीं बतलाते कि आण् के स्थान पर अन् कैसे हुआ और उसका प्रथम दीर्घ अकार ह्रस्व कैसे हो गया तथा द्वितीय तालव्य अक्षर दन्त्य में कैसे परिणत हो गया। इसके अतिरिक्त अतम् शब्द द्राविड़ शब्द नहीं है, जैसा कि हैरास मानते हैं, तामिल-शब्दकोश इस शब्द को संस्कृत अधस् से निकालते हैं जिसका अर्थ 'नीचे' होता है। और यह सुविख्यात है कि, जैसा हावर ने बतलाया है, आत्मा शब्द ऋग्वेद में बहुत अधिक पाया जाता है और उसकी व्युत्पत्ति मन् धातु से की जाती है।'

आर्य-द्रविड़-भेद को बढ़ावा देने वाले केवल विदेशी विद्वान् ही हों, ऐसी बात नहीं है। शाहंशाह पञ्चम जार्ज की रजत-जयन्ती के अवसर पर सर चौकलिंगमपिल्ले ने जिस वृहत्काय ग्रन्थ को भेंट किया था उस पर भारत सरकार का लाखों रुपया यही सिद्ध करने के लिये खर्च किया गया था कि आर्य और द्राविड़ नस्लों में से अब केवल द्राविड़ नस्ल ही शुद्ध रूप में बची है और वह केवल मात्र भारत के मद्रास प्रान्त में तथा योरोप के इंगलैण्ड में पायी जाती है। आर्यों और द्राविड़ों के भेदभाव में कितनी कट्टरता से भारतीय विद्वान् विश्वास करते हैं इसका एक प्रमाण डॉ० ए.पी. कारमार्कर का वह कथन है, जिसमें वे भारतीय धर्मों पर लिखने वाले विद्वानों की चर्चा करते हुए कहते हैं कि—"इनमें से किसी ने भी कोई ऐसी सुस्पष्ट और सुनिश्चित रूपरेखा प्रस्तुत नहीं की है जिससे कि कोई भारतीय धर्मों में आर्य तथा द्राविड़ (अथवा व्रात्य) तत्वों के भेद को ठीक-ठीक समझ सके। हम ऐसा कहने का साहस मुख्यतया इसलिये करते हैं कि, पिछले पच्चीस वर्षों में, अभिलेख, मुद्रा, पुरा-

तत्त्व तथा ऐसे ही अन्य विज्ञानों के क्षेत्रों में जो विविध प्रकार की सामग्री मिली है, उसने विद्वानों के दृष्टिकोण को ही बदल दिया है और यह असंदिग्ध रूप से सिद्ध कर दिया है कि सम्भवत: आर्य-पूर्व भारत में व्रात्यों की एक आश्चर्यजनक सभ्यता का अस्तित्व था। विशेष करके मोहेनजोदड़ो, हड़प्पा तथा अन्य प्रागैतिहासिक स्थानों की आश्चर्यजनक खोजें अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं''।

परन्तु दुर्भाग्यवश ये विद्वान् इस बात को बिल्कुल भूल जाते हैं कि आर्य और द्राविड़ किसी नस्ल के नाम नहीं हैं। सर्वप्रथम जब आर्य नस्ल (Aryan race) का नारा मेक्समूलर ने १९वीं शताब्दी में योरोप को दिया, तो उसका दुरुपयोग होते देख कर उस विद्वान् ने स्वयं कहा था कि—'मैंने बार-बार घोषणा की है कि यदि मैं आर्य-शब्द का प्रयोग करता हूँ, तो मेरा अभिप्राय न किसी रक्त से होता है, न अस्थि, केश अथवा खोपड़ी से होता है; मेरा अभि-प्राय केवल उन लोगों से है जो' आर्य-भाषा बोलते हैं।' इसी प्रकार अन्य विद्वानों ने भी इस बात को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि आर्य और द्रविड़-शब्द किसी नस्ल के वाचक नहीं है, परन्तु फिर भी इस शब्द का प्रयोग जान-बूझ कर किया जा रहा है। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि इन शब्दों का नस्ल के अर्थ में प्रयोग करने की प्रवृत्ति उसी प्रकार घातक है जिस प्रकार हिटलर के समय में आर्य और यहूदी नस्लों का भेदभाव। इस बात की पुष्टि के लिये पाठकों को कून, गार्न तथा बर्डसेल के उन कथनों को देखना चाहिये जिनमें इन विद्वानों ने हिन्दू नस्ल (Hindu race) का नारा बुलन्द करने की चेष्टा की थी। इसी प्रकार एक फ्रेंच विद्वान् 'गार्सा द तासी'[२] ने हिन्दू और मुसलमानों के बीच नस्ल का भेदभाव उठाते हुए उर्दू भाषा की हिमायत की थी। उसने कहा था 'हिन्दी में हिन्दू-धर्म का आभास है—वह

---

१. 'The use of Aryan and Dravidian as racial terms is unknown to scientific students of anthropology' (Nilakantha Shastri, Cultural Contacts between Aryans and Dravidians p. 2)
'There is no Dravidian race and no Aryan race' (A.L. Basham: Bulletin of the Institute of Historical Research II (1963), Madras.
'The terms Aryan and Dravidian refer to inguistic groups, but they have been often used in the ethnic sense.'—S.S. Sarkar, Cultural Heritage of India Vol. 1 p. 17.

२. रामचन्द्र शुक्ल—हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ४३५ (२०१२)

धर्म जिसके मूल में बुत-परस्ती और उसके आनुषङ्गिक विधान हैं। इसके विपरीत उर्दू में इस्लामी संस्कृति और आचार-व्यवहार का संचय है। इस्लाम भी सेमेटिक मत है और एकेश्वरवाद उसका मूल सिद्धान्त है, इसलिए इस्लामी तहज़ीब में ईसाई या मसीही तहज़ीब की विशेषताएँ पायी जाती हैं।'

उपर्युक्त पाण्डित्यपूर्ण प्रयत्नों के पीछे चाहे कुछ लोग कोई उद्देश्य स्वीकार न करें, परन्तु भारत के इतिहास में २० वीं शताब्दी की घटनाओं को देखते हुए कोई भी समझदार व्यक्ति इस बात से इन्कार नहीं कर सकता कि इसी प्रकार के विचारों के परिणामस्वरूप आज द्रविड़ कषगम और द्रविड़-मुनेत्र कषगम की राजनीति उठ खड़ी हुई है, और इसीके फलस्वरूप हिन्दुस्तान और पाकिस्तान के रूप में हमारी परम्परागत राष्ट्र-भूमि का विभाजन हुआ है तथा नागालैंड, मिजोलैंड आदि अनेक भागों को भारत से पृथक करने की माँग जारी है। अवैज्ञानिक तथ्यों को वैज्ञानिक कहकर भारतीय मानस में जो अराष्ट्रीय विचारधारा भर दी गई है, वह आज शुद्ध राष्ट्रवादी मस्तिष्कों में भी किस प्रकार घर कर चुकी है, उसका प्रमाण राष्ट्रीय एकता के एक प्रबल समर्थक व्यक्ति के निम्नलिखित कथन से स्पष्ट सिद्ध होती है—

'भारत एक उपमहाद्वीप है, जिसमें अनेक विविध भाषाएं, रस्म-रिवाज, संस्कृतियाँ, धर्म और ऐसे बहुत से राज्य हैं जिनमें से प्रत्येक का अपना पृथक् इतिहास और परम्पराएं हैं। अंग्रेजों के आने के पूर्व, कुछ संक्षिप्त अंतरालों को छोड़ कर, भारत केवल एक भौगोलिक इकाई रहा। राजनीतिक और सांस्कृतिक दृष्टि से वह वर्तमान यूरोप की भाँति अनेक परस्पर भिन्न राज्यों में विभक्त था। ब्रिटिश उपनिवेशवाद के अंतर्गत सब का सम्मिलित उत्पीड़न और साथ में एक सम्मिलित प्रशासन, न्याय-व्यवस्था और सबसे अधिक सभी राज्यों के सरकारी कर्मचारियों तथा शिक्षितजनों द्वारा अंग्रेजी भाषा का प्रयोग किया जाना—यही ऐसी बातें थीं, जिसके कारण भारत के विविधजन एक राष्ट्रीयता एवं एक देश को प्राप्त कर सके'। (हिन्दुस्तान टाइम्स २० जून, १९६९)

## नस्लवाद के विरुद्ध चेतावनी

हिन्दू मुसलमान, आर्य-द्रविड़ आदि के भेदभाव पर आधारित इस विचित्र नस्लवाद के विरुद्ध विद्वानों द्वारा कई बार चेतावनियाँ भी दी गईं। स्वामी दयानन्द सरस्वती का 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' का वैदिक उद्घोष वस्तुतः सारे

भारत में एक ही आर्य राष्ट्र को मानता था। यदि आधुनिक विद्वानों के कथनानुसार, स्वामीजी का यह मत सर्वथा अवैज्ञानिक और एकमात्र भावुकता पर ही आधारित मान लिया जाय, तो भी ऐसे विद्वानों की कमी नहीं है, जिन्होंने तथाकथित वैज्ञानिक नस्लवाद को चुनौती न दी हो। जर्मन विद्वान् मैक्समूलर के मत को ऊपर उद्धृत किया ही जा चुका है। डा. पी. सी. वाग्ची ने जब अपनी पुस्तक 'प्री-आर्यन एण्ड प्री-द्रविडियन इन इण्डिया' में फ्रेंच भाषाविदों की सम्मतियों को संकलित करते हुए आर्यों तथा द्रविड़ों से पूर्व कुछ नस्लों के अस्तित्व को सिद्ध किया, तो ए. बी. कीथ[1] ने आलोचना करते हुए लिखा था कि—'हम चाहे द्रविड़-पूर्व भाषा और धर्म में एकदम विश्वास करलें और चाहे हम यह भी मानलें कि उस समय कुछ ऐसे राजनैतिक संगठन भी थे जिन्होंने वैदिकजन के उन्हीं संगठनों पर प्रभाव डाला हो, परन्तु फिर भी ऐसा मानने के लिये कोई ठोस प्रमाण अब भी नहीं प्राप्त हैं'। इसी प्रख्यात विद्वान् ने जब कुछ विद्वानों को भारतीय आबादी में विदेशी तत्वों को ढूंढने के लिये अत्यधिक उत्सुक पाया, तो १९३१ में लिखा[2] था कि—'उत्तरी पश्चिमी प्रान्त के पठानों को ट्रावन्कोर की पहाड़ी जातियों से मिलाने वाली कड़ी का अस्तित्व अब भी है। यदि विकासवाद एक सत्य है और यदि पेंतीस करोड़ दो लाख भारतीय जन मानव-जाति की उसी शाखा के सदस्य हैं तो ऐसा ही होना भी चाहिये। परन्तु फिर भी आचर्श्य की बात यह है कि सभी नहीं, तो कम से कम लगभग सभी लोग जिन्होंने भारतीय आबादी के अंतर्गत विभिन्न नस्लों की व्याख्या करने का प्रयत्न किया है, उन्होंने इस समस्या का हल केवल भारतीय उपमहाद्वीप के बाहर ही खोजने का प्रयत्न किया है। उन्होंने इस बात को जानने का भी प्रयत्न नहीं किया कि स्वयं भारत ने अपनी नस्लों को किस सीमा तक जन्म दिया है। वे यह मानकर चले हैं कि इन नस्लों का विकास अत्यन्त प्राचीनकाल में और भारत से बहुत दूर हुआ होगा, न कि स्वयं भारत में जो कि नृवंश वैज्ञानिकों के लिये एक बहुत बड़ा स्वर्ग सिद्ध हो रहा है।' श्री नीलकंठ शास्त्री ने भी अपनी 'कल्चरल कान्टेक्ट्स बिट्वीन आर्यन एण्ड द्रविडियन' नामक पुस्तक में विद्वानों के उक्त नस्लवादी दृष्टिकोण की अवैज्ञानिकता पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि—'नस्ल संबंधी भेद-भाव के

---

1. Religion and philosophy of the Veda. Page 433
2. Racial offinities of the people of India, Census of India, 1931

इतिहास का प्रारम्भ कब हुआ इस बात को जानने के लिये कोई प्रत्यक्ष प्रमाण उपलब्ध नहीं है, और नृवंशविज्ञानवेत्ता पांच छः या सात हजार वर्ष पुरानी नस्लों के विषय में अपनी अटकलबाजी के लिये मुख्यतः उस सामग्री पर अवलम्बित रहते हैं जो अभी हाल ही में अथवा इस समय प्राप्त हो जाती है। इसके अतिरिक्त अपने निष्कर्षों में कोई भी दो विद्वान् परस्पर सहमत नहीं होते'।

महर्षि अरविन्द ने भी भारतीय राष्ट्र में आर्य और द्रविड़ नस्लों के भेद-भाव को अवैज्ञानिक बतलाया है। वे इतिहासकारों के इस सिद्धान्त को नहीं मानते कि उत्तरी ठंडे प्रदेशों में बसने वाले आर्य-नस्ल के लोगों ने भारत के द्रविड़ लोगों पर आक्रमण करके उनको नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। अरविन्द के मतानुसार 'वेद में जो आर्य तथा अनार्य का भेद प्रतीत होता है वह नस्ल का नहीं अपितु संस्कृति का भेद है। प्रायः कहा जाता है कि वेद में दस्युओं को काले रंग का तथा 'अनास' बतलाया जाता है जो गोरे रंग और लम्बी नाक वाले आर्यों से भिन्न थे। परन्तु यद्यपि रंग का भेद आर्य, देवों और दास शक्तियों में क्रमशः प्रकाश एवं अन्धकार के अर्थ में अवश्य कहा जाता है. परंतु अनास शब्द का अर्थ नासिकाहीन कदापि नहीं हो सकता। यदि यह अर्थ मान भी लिया जाय तो भी तथाकथित द्रविड़ लोगों पर बिल्कुल लागू नहीं होता, क्योंकि दक्षिण भारतीयों की नाक वैसी होती है जैसी कि उत्तर भारत के तथा कथित आर्यों की।' आर्य और द्रविड़ों के भेदभाव पर टीका-टिप्पणी करते हुए उन्होंने एक स्थान पर और कहा है कि—'भाषा-वैज्ञानिकों ने भाषाई भेदों के आधार पर भारतीय राष्ट्र को उत्तरी आर्य-नस्ल तथा दक्षिणी द्रविड़-नस्ल में बांट दिया है परन्तु गम्भीरता-पूर्वक निरीक्षण करने के पश्चात् स्पष्ट हो जाता है कि कन्याकुमारी से लेकर अफगानिस्तान तक सारे भारतवर्ष में केवल कुछ सूक्ष्म परिवर्तनों के साथ एक ही प्रकार का भौतिक शरीर दिखलाई पड़ता है। इसलिये नस्ल का निर्णय करने वाले तत्व के रूप में भाषा को नहीं माना जा सकता। यदि सचमुच कोई द्रविड़ नाम की नस्ल इस समय है अथवा कभी थी, तो भारत की सभी नस्लें शूद्र-द्रविड़ मानी जानी चाहिये, अथवा यदि आर्य नाम की कोई नस्ल है अथवा कभी थी तो वे सब के सब आर्य माने जाने चाहिये, अथवा वे सब के सब एक वर्णसंकर नस्ल होनी चाहिये जिसमें किसी एक नस्ल की विशेषताओं की प्रधानता हो, परन्तु किसी भी अवस्था में संस्कृत और तामिल-परिवार के भाषाई विभाजन के लिये इस समस्या के

समाधान में कोई स्थान प्राप्त नहीं हो सकता। परन्तु फिर भी इन आकर्षक एवं सामान्य निष्कर्षों तथा बहुचर्चित भूलों को आजकल इतना महत्त्व दिया जा रहा है कि सारा संसार इस गलती को स्थायित्व प्रदान करते हुये भारत योरोपीय नस्लों की बात करता है और आर्य-नस्ल से अपने संबंध को स्वीकार अथवा अस्वीकार करता हुआ इस झूठे आधार पर दूरगामी राजनीतिक, सामाजिक तथा अर्द्ध वैज्ञानिक निष्कर्षों को जन्म दे रहा है'।

## नस्लवाद की अवैज्ञानिकता

श्री वी. आर. रामचन्द्र दीक्षितार के शब्दों में 'नृवंश-शास्त्रियों के आधुनिक वैज्ञानिक अध्ययनों का एक उल्लेखनीय परिणाम यह हुआ कि अब संस्कृति पर अधिकाधिक जोर दिया जाता है और नस्ल पर न्यूनातिन्यून। अतः यूरोप के संदर्भ में हम लैटिन-संस्कृति या ऐंग्लो-सेक्शन संस्कृति की बात करते हैं, न कि लैटिन-नस्ल एवं ऐंग्लो-सेक्शन नस्ल की। इसी प्रकार हमें भारत में आर्य और द्रविड़ संस्कृतियों को मानना चाहिये न कि नस्लों को।' यह कथन योरोप के लिये भले ही ठीक हो, क्योंकि वहां इस सत्य को बहुत पहले ही जान लिया गया था कि नस्लवाद 'एक कपोल-कल्पना और भयंकर कपोलकल्पना है' परन्तु भारतवर्ष की जातिपांत, संस्कृति, धर्म आदि के विषय में जो भी पुस्तकें लिखी गई हैं, उनको देखते हुए तथा उनके परिणामस्वरूप होने वाले नाना प्रकार के भेदभाव पर आधारित आन्दोलनों, उत्पातों और तोड़फोड़ की कार्यवाहियों को देख कर यही कहना पड़ेगा कि जिस नस्लवाद को योरोप में तिरस्कृत कर दिया गया, वह अब हमारे देश में एक महान् सत्य के रूप में माना जा रहा है। परन्तु यह कहां तक वास्तविक सत्य है इस बात को जानने के लिये एक महान् विदेशी विचारक एवं वैज्ञानिक जूलियन हक्सले के मत को यहां पर उद्धृत करना समीचीन प्रतीत होता है। उसने 'यूनीकनेस आव मैन' नामक ग्रंथ में स्पष्टतया बतलाया है कि नस्लवाद मानव जाति की कितनी भयंकर भूल है। उसका कहना है कि 'तथाकथित नस्ल संबंधी प्रत्येक समस्या को सुलझाने के व्यवहारिक पक्ष में सदा यही भूल प्रतीत होती है कि हम सांस्कृतिक तत्वों को ही प्रजननपरक तत्व मान लेते है। वास्तव में प्रजननपरक तत्वों को ही विधिवत् नस्ल से संबंधित माना जा सकता है; परन्तु यदि हम आधुनिक प्रजनन-विज्ञान के आधार पर विश्लेषण करें तो स्वयं नस्ल की कल्पना ही छिन्न-भिन्न हो जाती है। इस विश्लेषण के परिणाम ये हैं—

१. प्रथमतः जहां तक मनुष्य का संबंध है हमें अपने वैज्ञानिक तथा लोकप्रिय दोनों प्रकार के शब्दकोष से नस्ल शब्द को बिल्कुल ही निकाल देना सर्वश्रेष्ठ होगा।

२. हमारे वर्तमान उद्देश्य की पूर्ति के लिये अधिक महत्वपूर्ण यह है कि जब तक हम उपेक्षित जनों के लिये अधिक उपयुक्त वातावरण उपस्थित करके सबके लिये अवसरों की समानता पैदा नहीं कर देते तब तक हम विभिन्न नस्लों के लोगों के जातीय भेदों तथा मानसिक विशेषताओं के विषय में ऐसी कोई घोषणा नहीं कर सकते जिसको वैज्ञानिक कहा जा सके। इसी प्रकार के विचार-विमर्श को आधार बना कर जूनीयल हक्स्ले ने 'रेस इन योरोप' नामक एक पुस्तिका प्रकाशित करके अपना यह निष्कर्ष प्रचारित किया था कि—'नस्लवाद एक कपोलकल्पना है और एक भयंकर कपोल-कल्पना है।'

## सिन्धुघाटी सभ्यता और नस्लवाद

नस्लवाद के विरुद्ध जूलियन हक्स्ले के वैज्ञानिक मत को जानते हुए भी आधुनिक विद्वानों के सामान्यतः भारत-संबंधी सभी अन्वेषणों में (और विशेषकर सभ्यता के प्रसंग में) नस्लवाद जोरों से चलता रहा है। मेरा अपना व्यक्तिगत विचार बनता जा रहा है कि इसी अवैज्ञानिक दृष्टिकोण को अपनाने से योरोपियनों ने अमरीका एवं अफ्रीका में वह विषाक्त स्थिति पैदा की जिसकी झलक हमें अंकिल टौम्स कैबिन, रेड-ब्रेड तथा ह्यूमानिटी अपरूटेड आदि अंग्रेजी पुस्तकों में मिलती है तथा इसीके परिणामस्वरूप भारत अपनी संस्कृति के सच्चे स्वरूप को पहचानने से वंचित किया गया है, जिसके कारण भारतीय संस्कृति से विश्व को जो अमूल्य निधि मिल सकती थी वह नहीं मिल पाई। परन्तु खेद की बात यह है कि इस अवैज्ञानिक नस्लवाद को हम भारतीय वैज्ञानिक कह कर अपने जीवन से चिपकाते चले जाते है और अनजान में राष्ट्र के विघटन में साझीदार हो रहे हैं।

यह नस्लवादी दृष्टि सिंधु-सभ्यता और वैदिक-संस्कृति के अध्ययन में भी इतनी अधिक छाई हुई है कि इसके विपरीत किसी बात को सुनने के लिए लोग तैयार नहीं हैं। इसका सबसे ताजा प्रमाण वह आलोचना है जो देशी और विदेशी विद्वानों ने मेरी सिंधु-सभ्यता-विषयक खोज पर की है।

दिसम्बर मास की स्वाहा में प्रकाशित सिन्धु लिपि की वर्णमाला को देख कर जहाँ अनेक विद्वानों ने यह आग्रह किया है कि मैं इस वर्णमाला को प्राप्त करने का रहस्य कुछ विस्तार से लिखूं वहाँ कुछ लोगों ने यह भी जानना चाहा है कि मैंने पूर्व विद्वानों के प्रयत्नों को क्यों अस्वीकार कर दिया है। एक दो ऐसे सज्जन भी हैं जिन्होंने स्पष्ट कह दिया है कि वैज्ञानिक ढंग से सिन्धु-लिपि का अध्ययन केवल विदेशी विद्वान् ही कर रहे हैं, और भारतीय विद्वानों का प्रयत्न केवल भावुकता-भरा प्रयास है। कुछ ऐसे लोग हैं जो मार्शल आदि के कार्य को अंतिम सत्य मान बैठे हैं और आगे कोई नई बात सुनने को तैयार नहीं हैं। एक का कहना है कि वैदिक साहित्य तो श्रवण-परम्परा पर आधारित था, वहाँ लिपि का क्या काम; दूसरे के मत में सबसे पहले मुद्रणकला का आविष्कार चीन में सिद्ध हो चुका है, अतः अब भारतवर्ष को इसका श्रेय देना ठीक नहीं। इन सभी का मैं कृतज्ञ हूँ, क्योंकि इन्होंने मेरे प्रयत्न में रुचि दिखलाई है। यद्यपि इन सभी विद्वानों को पृथक् पृथक् उत्तर देना संभव नहीं है, परन्तु फिर भी स्वाहा में सिन्धु लिपि के विषय में अपने प्रयत्न और शोध-प्रक्रिया पर कुछ विस्तार से लिख देना आवश्यक समझता हूँ। आशा है इस लेख से सभी विद्वानों की जिज्ञासा का थोड़ा बहुत समाधान अवश्य हो जायेगा परन्तु जिन्हें पुरानी मान्यताओं से मोह हो गया है, उनका यदि दिल दुखे तो वे कृपया मुझे क्षमा करें।

अधिकांश आलोचकों ने इस बात पर रोष व्यक्त किया है कि मैंने सिन्धु-संस्कृति को वैदिक, सिन्धु-भाषा को संस्कृत तथा सिन्धु-लिपि को ब्राह्मी का पूर्वरूप कह कर उन विद्वानों का अनादर किया है जो इनको द्रविड़ों की देन मानते हैं। वस्तुतः जब सिन्धुलिपि पर कार्य करना प्रारम्भ किया था, तो मैंने भी मार्शल, मैके, हेरास आदि विद्वानों में पूर्ण श्रद्धा रखते हुए ही इस काम में हाथ डाला था। अतः उस समय उक्त आलोचकों के समान मैं भी भारतीय पुरातत्व के अध्ययन में उसी 'नस्लवादी' (Recialitie) दृष्टिकोण का पक्षपाती था जिसका प्रकाश हमें अंग्रेजी भाषा की 'अंतर्राष्ट्रीय खिड़की' से निरन्तर मिलता रहा है। स्वाहा में प्रकाशित मेरे लेख को हिन्दी में देखकर कुछ लोगों ने समझा कि मैं 'सिन्धुघाटी सभ्यता' पर लिखने की अनधिकार चेष्टा कर रहा हूँ, क्योंकि उनकी सम्मति में महत्वपूर्ण शोधकार्य वैज्ञानिक ढंग से अंग्रेजी, फ्रेंच और जर्मन के माध्यम से ही किया जा सकता है। यदि आत्म-श्लाघा क्षम्य हो तो मैं ऐसे सज्जनों को सूचित कर देना चाहता हूँ कि मैंने

अंग्रेजी, फ्रेंच और जर्मन माध्यम से भी भारतीय इतिहास और संस्कृति के उन सभी पक्षों पर पर्याप्त अध्ययन किया है जो सिन्धु-लिपि और संस्कृति को जानने समझने में सहायक हो सकते हैं और साथ ही उस विस्तृत वैदिक, पौराणिक, बौद्ध एवं जैन-साहित्य से भी प्रत्यक्ष परिचय प्राप्त किया है जो भारत की प्राचीनतम संस्कृति को जानने के लिये एकमात्र 'राष्ट्रीय द्वार' तथा संभावित कुन्जी है। जहाँ अंग्रेजी, फ्रेंच और जर्मन भाषाओं के माध्यम से हमें वह नस्लवादी दृष्टिकोण मिला जिससे हमने भारतीय ही नहीं, विश्व-संस्कृति को काली, गोरी और पीली नस्लों के आधार पर आंकना सीखा, वहां भारतीय साहित्य से हमें वह मानवतावादो दृष्टि मिली जिसके अनुसार ऋग्वेद में इस देश के लोगों को 'भारतजन' तथा पुराणों में 'भारती-प्रजा' अथवा 'भारतीय-संतति' कहा है और समस्त मानव-जाति में एकता देखते हुए 'विश्वमानुष' की कल्पना की गई है। 'अन्तर्राष्ट्रीय खिड़की' से झांकने पर हमें ऐसा लगा कि भारत एक उपमहाद्वीप है जिसमें अनेक राष्ट्र, अनेक भाषाएं, अनेक धर्म, अनेक संस्कृतियां तथा अनेक नस्लें हैं जिसको एक 'राष्ट्र' एवं एक 'देश' का गौरव अभी हाल में अंग्रेजी राज्य तथा अंग्रेजी भाषा ने दिया है परन्तु 'राष्ट्रीयद्वार' से प्रवेश करने पर मैंने पाया कि ऋग्वेद के समय में ही 'राष्ट्र'[1] शब्द का प्रयोग आधुनिक अर्थ में होता था, और अथर्ववेद के अनुसार विविध बोलियों एवं विविध धर्मों वाले 'जन' को धारण करती हुई भी हमारी राष्ट्र-भूमि एक थी, और एक थी हमारी 'राष्ट्रीवाक्'[२] (राष्ट्रभाषा) जो सभी को एक संगम में मिलाती थी।

फिर भी प्रारम्भ से विदेशी दृष्टिकोण का ऐसा आतंक था कि जब सिंधु-संस्कृति और लिपि का अध्ययन प्रारम्भ किया, तो मैंने भी नस्लवादी दृष्टि को ही अपनाया और निम्न लिखित मान्यताओं के आधार पर अध्ययन शुरू किया—

१. दुनियाँ की सभी लिपियां मिश्र के समान चित्र-लिपि से निकली हैं।
२. सिंधुलिपि दायें से बायें को लिखी जाती है।
३. सिंधु-लेखों की भाषा संस्कृत नहीं हो सकती।
४. सिंधु-संस्कृति प्राचीन द्राविड़ों की कृति है।

---

1. C. V. Vaidya
२. ऋ० नं० १०, १२५

यद्यपि इन मान्यताओं को मार्शल, मैके, गैड, लेंग्डन, हैरास, ह्वीलर तथा पीगट जैसे विद्वानों का आशीर्वाद प्राप्त था, परन्तु मुझे खेद है कि तदनुसार कुछ ही दिनों काम करने के पश्चात् मुझे पता चला कि उक्त पूर्वाग्रह मुझे एक गलत रास्ते पर ले जा रहे हैं और मेरी आंखों पर साम्राज्यवाद तथा नस्लवाद ने इन पूर्वाग्रहों की पट्टियां बांध दी हैं। मेरा यह भ्रम-निवारण विशेषकर तब हुआ जब मैंने सर जॉन मार्शल और रेवेरेन्ड फादर हैरास की कृतियों को देखा और पाया कि सिंधुघाटी सभ्यता के अध्ययन में भी नस्लवाद को अपनाया गया है; कोई उसे द्राविड़ सभ्यता कहता है तो कोई आर्य। भारतीय परंपरा में मुझे कहीं भी आर्य और द्रविड़ नाम की नस्लें नहीं मिलीं, अपितु द्रविड़ों को आर्य विश्वामित्र का पुत्र बताया गया है। अतः सिंधु-लिपि के अन्वेषण में जब मुझे उपर्युक्त मान्यताओं के आधार पर सफलता न मिली, तो मैंने सर्व प्रथम अपने मस्तिष्क से नस्लवादी दृष्टिकोण को निकाल कर विभिन्न लिपियों का तुलनात्मक अध्ययन प्रारम्भ किया। मुझे हर्ष है कि ऐसा करने से मुझे सफलता मिली है और सिंधु-सभ्यता में स्पष्टतः वैदिक-संस्कृति के तत्त्व मिले हैं।

# सिन्धु-लिपि और एक-शृंगी पशु

[ डॉ० फतहसिंह ]

भारतीय इतिहास और संस्कृति के वास्तविक स्वरूप को समझने में आधुनिक विद्वानों का नस्लवादी दृष्टिकोण सबसे अधिक बाधक रहा है। यद्यपि आधुनिक दृष्टि की वैज्ञानिकता सराहनीय है, परन्तु नस्लवाद के कारण जो पूर्वाग्रह बन जाते हैं उनके फलस्वरूप दृष्टि की वैज्ञानिकता वन्ध्या होकर अभीष्ट प्रसव नहीं कर पाती। इसका सबसे अच्छा उदाहरण सिन्धु-लिपि की खोज है। लगभग पिछले ६० वर्षों से सिंधु-लिपि के क्षेत्र में जो शोधकार्य किया गया उसमें या तो सिन्धु-लिपि को द्रविड़-नस्ल की देन बताई जाती है अथवा आर्य-नस्ल की। अतः वर्तमान लेखक ने भी इस लिपि को प्रारम्भ में द्रविड़ों की कृति ही माना था; परन्तु जब इस दृष्टि से कोई प्रकाश नहीं मिला और आर्य तथा द्रविड़-नस्लों का अस्तित्व ही कपोलकल्पित प्रतीत हुआ तो नस्लवादी दृष्टि को सर्वथा परित्याग करके विभिन्न लिपियों के तुलनात्मक अध्ययन के द्वारा किसी मार्ग को खोजने की प्रवृत्ति जागृत हुई।

## हिन्दी उर्दू एक है

इस तुलनात्मक अध्ययन के फलस्वरूप मुझे हिन्दी और उर्दू-लिपियों में असाधारण समानता दिखाई पड़ी। विद्वानों की मान्यता थी कि हिन्दी हिंदुओं और आर्यों की है तथा उर्दू मुसलमानों और सेमेटिक लोगों की है; उनका कहना था कि एक बाएँ से दाएँ को लिखी जाती है एवं दूसरी दाएँ से बाएँ को, अतः ये दोनों लिपियाँ एक कैसे हो सकती हैं? परन्तु जब इस भेदवादी दृष्टि को त्याग कर शुद्ध भारतीय दृष्टि से इन लिपियों पर विचार किया गया तो दोनों की मौलिक एकता स्पष्ट हो गई। उर्दू का अलिफ हिन्दी वर्णमाला के प्रत्येक अक्षर में छोटा या बड़ा दंडाकार रूप धारण करके जुड़ा हुआ है। यदि इस दंडाकार अलिफ और शिरोरेखा को हिन्दी-वर्णों से निकाल दें तो उनका जो अवशिष्ट अंश बचता है वह उर्दू-अक्षरों से बहुत मिलता-जुलता है, यदि उर्दू ऐन को वामावर्त करके उसके दाहिनी ओर दंडाकार अलिफ लगा दें तो हिन्दी-गुजराती से लेकर ब्राह्मी 'अ' का पूर्वरूप तय्यार हो जाता है। इसी प्रकार उर्दू का ज़बर, ज़ेर तथा पेश को क्रमशः हिंदी आ, इ तथा उ की मात्राओं में देखा जा सकता है। हिंदी की इ में उर्दू की इये और ज़ेर दोनों मौजूद हैं तथा हिंदी उ में अलिफ के नीचे पेश लगा हुआ है। उर्दू के सानुनासिक वर्ण

नून, मीम, तनवीन और नूनगुन्ना में हिन्दी के दंडाकाररहित न, म, ञ, ङ, ण तथा चन्द्रविन्दु आदि की झलक मिलती है। उर्दू रे, तोय, लाम, इये (छोटी) का क्रमशः हिंदी र, त, ल तथा य से तथा उर्दू श्वाद, दुश्चश्मी हे, चे, दाल का हिंदी श, ह, च, द से स्पष्ट साम्य प्रतीत होता है। (देखिये सिंधु और उर्दू लिपियों की एकता)

## लिपि का आविष्कार

हिंदी-उर्दू-लिपियों की तुलना से पता चला कि दोनों का मूल एक होते हुये भी, उनके भेद का कारण यह है कि हिंदी-लिपि वह देवनागरी लिपि है जो एक निश्चित 'दर्शन' के आधार पर पुनर्गठित करके उसी 'देवनगर' की वस्तु[1] बनाई गई है जिसे अथर्ववेद[2] में अष्टचक्रा नवद्वारा अयोध्या-नामक देवपुरी कहा गया है। इस दर्शन का आधारभूत तथ्य यह है कि अकाररूपी स्वरात्मा नाना स्वरों का रूप धारण करके व्यंजनों को व्यक्त करता है; संभवतः इसीलिए क, ख आदि ध्वनियों को अभिव्यक्ति अर्थवाली (वि पूर्वक अञ्ज् धातु से निष्पन्न) व्यंजन-संज्ञा प्रदान की गई है। इसी प्रसंग में विचार करने पर ज्ञात हुआ कि इन वर्णों की आकृतियों का संबंध मूलतः उनके उच्चारण में प्रयुक्त अंगों से भी था। उदाहरण के लिए, वैदिक ॐ ङ, रोमन M, m आदि का उत्फुल्ल नासिका से तथा उर्दू नून, रोमन n, हिंदी चन्द्रविन्दु, ञ, न आदि में सिकुड़ी हुई नासिका की आकृति देखी जा सकती है। इसी प्रकार हिन्दी र, उर्दू रे, रोमन r और R में जिह्वा की वक्रता तथा हिंदी प, रोमन p, ब्राह्मी प तथा उर्दू पे आदि में होठों की एक विशेष आकृति दिखलाई पड़ती है। इसी ढंग से विविध लिपियों की तुलना करते हुये, लिपि के आविष्कार का मूलाधार उन अंगों की आकृतियों के अनुकरण-चित्रों में मिला जो विभिन्न ध्वनियों के उच्चारण करते समय बन जाती हैं। इस निष्कर्ष का उल्लेख इंदौर की 'वीणा' और लखनऊ की 'त्रिपथगा' में बहुत पहले किया जा चुका है।

## ब्राह्मी-लिपि तथा सिन्धु-लिपि

उक्त निष्कर्ष के प्रकाश में जब सिंधु-लिपि की परीक्षा की गई, तो मालू हुआ कि सिंधु-लिपि भी उसी सिद्धान्त के आधार पर बनी है। उदाहरण :

१. R. Shamasastri, Indian Antiquiry Vol. XXXV pp. 253-67; 270 90; 311-24.

२. अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।

लिए सिंधु-लिपि का दन्त्य सकार दंत-पंक्ति की आकृति का है और उसकी समानता उर्दू लिपि की सीन, देवनागरी तथा ब्राह्मी के स के साथ स्पष्ट है। इसी प्रकार सिंधु ह, उर्दू दुश्चश्मी हे तथा ब्राह्मी और देवनागरी ह के मूल में काकल द्वारा द्विविध विभाजित कंठ-विवर की आकृति विद्यमान प्रतीत होती है और सिंधु, ब्राह्मी, देवनागरी, अरबी तथा रोमन के र तथा द में जिह्वा की वक्रता समान रूप से देखी जा सकती है। सिंधु, उर्दू, देवनागरी आदि के अ, इ, उ, ऊ, प, व, ल, त, क, न आदि अनेक वर्णों में समानता है और उनके मूल में किसी न किसी उच्चारण-स्थान की आकृति का अनुकरण है जिसको संबंधित प्लेट[1] में देखा जा सकता है। प्रारंभ में इसी प्रकार कुछ सिंधु-वर्णों की पहचान करने के पश्चात् मुद्रा-लेखों को पढ़ने का प्रयत्न किया गया, परन्तु इस अवस्था में प्रश्न उपस्थित हुआ कि सिंधु-लिपि की दिशा कौनसी है।

### सिंधु-लिपि की दिशा

सिंधु-लिपि की दिशा के विषय में बहुत मतभेद था। लैंग्डन, मार्शल तथा गैड ने जहाँ उसे दाहिनी ओर से बाईं ओर को लिखा हुआ माना, वहाँ प्राणनाथ, राजमोहननाथ, शंकरानन्द तथा सुधांशुकुमार रे ने उसे बाईं ओर से दाहिनी ओर अथवा दोनों ओर को लिखा हुआ माना है। इधर कालीबंगा से प्राप्त तीन लेखों के आधार पर डा० ब्रजबासीलाल ने उसे निश्चित रूप से दाहिनी ओर से बाईं ओर को लिखी जाने वाली लिपि सिद्ध किया है। इसी बीच भगवतीसूत्र-नामक जैनागम को पढ़ते हुये मैंने उस सूत्र को देखा जिस में ब्राह्मी लिपि को नमस्कार किया गया है। इस सूत्र पर टीका करते हुये ग्यारहवीं शताब्दी के टीकाकार अभयदेव ने आवश्यक निर्युक्ति भाषा गाथा १३ को उद्धृत करते हुये बताया कि जो ब्राह्मी लिपि दक्षिण हाथ की ओर से लिखी जाती है उसी को उक्त सूत्र में नमस्कार किया गया है। इस जैन-परंपरा की पुष्टि उन उदाहरणों से भी होती है जो ब्यूलर ने ब्राह्मी के सेमेटिक मूल को बताने के लिए प्रस्तुत किए हैं। इस प्रकार ब्राह्मी लिपि को दोनों ओर से लिखे जाने के प्रमाण पाकर, जब मैंने सिंधु-लिपि की परीक्षा की, तो वह भी दोनों ओर से लिखी हुई पाई गई। सर जॉन मार्शल ने भी अपने ग्रंथ में हाथी-दाँत आदि की कुछ ऐसी दंडाकार वस्तुओं के चित्र मुद्रित किए हैं जिनमें एक ही लेख को दोनों ओर से उत्कीर्ण किया गया है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित लेख द्रष्टव्य हैं—

---

१. देखिये 'सिंधु, हिंदी और उर्दू लिपियों की एकता'।

(१) M. I. C. PL. CXIV अंतर्गत M. I. C. PL. CXIV. 532 में दो दो मुद्रायें हैं जिनमें से एक पर दाईं ओर से और दूसरी पर बाईं ओर 'इंद्रा-उमा' लिखा है।

(२) M. I. C. PL. CXIV 531 में भी दो मुद्रायें हैं जिनमें से एक पर दोनों ओर से 'स्वा' शब्द लिखा है जिनमें दंडाकार आ उभयनिष्ठ है, तथा दूसरी पर दोनों ओर से 'सविता' लिखा है और 'ता' को उभयनिष्ठ रक्खा गया है।

(३) M. I. C. PL. CXIV 530 तथा 529 में प्रत्येक में दो भिन्न-भिन्न मुद्राओं पर एक ही लेख दोनों दिशाओं से उत्कीर्ण है।

(४) 'स्वाहा' में प्रकाशित 'एकशृंगी लेखमाला' के अन्तर्गत भी सं० १ और ३६ की तुलना से भी स्पष्ट हो जाएगा कि एक ही शब्द उसी लिपि में दो भिन्न दिशाओं से किस प्रकार लिखा जा सकता है।

(५) उक्त एकशृंगी लेखमाला में ही लेख सं० १८ (दायें से) के दो शब्दों 'अणुवा उमा' की तुलना लेख सं० १ (वायें से) के अन्तिम दो शब्दों से तथा लेख सं० ३६ के प्रथम दो शब्दों से की जा सकती है।

### लिपि-चतुष्टय

इस प्रकार जब कुछ सिंधु-लेखों में प्रमुख सिंधु-लिपि को दो भिन्न दिशाओं में लिखा पाया गया, तो सचित्र मुद्राओं के लेखों का अध्ययन प्रारम्भ किया गया, क्योंकि इन मुद्रा-लेखों में व्यक्त हुए विचारों की पुष्टि चित्रों से होना संभव थी। इसी बीच में मेरा ध्यान हड़प्पा से प्राप्त उन मुद्राओं (प्लेट लिपि-द्वय) की ओर गया जिनमें डा. प्राणनाथ विद्यालंकार ने दो भाषाओं का प्रयोग हुआ बताया था। इन मुद्राओं के अध्ययन से ऐसा प्रतीत हुआ कि इन पर लिखे हुए लेखों में चार भिन्न लिपियां हैं यद्यपि अधिकांश अक्षर प्रमुख सिंधु-लिपि के ही हैं। अन्य मुद्रालेखों के पढ़ने से पता चला कि प्रमुख सिंधु-लिपि के अतिरिक्त जो वर्ण हैं वे अन्यत्र प्रमुख सिंधु-लिपि के अक्षरों के बीच में भी कहीं-कहीं आ जाते हैं। अतः संदेह हुआ कि ये वर्ण संभवतः कुछ विशिष्ट चिह्न हैं जो किसी दार्शनिक आवश्यकता की पूर्ति के लिये बनाए गए हैं। जैसे ही अधिकाधिक लेखों को पढ़ा गया वैसे ही इस संदेह की पुष्टि होती गई और अन्त में मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि दो दिशाओं में लिखित सिन्धु-लिपि के अतिरिक्त कुछ ऐसे विशिष्ट वर्णों का भी सर्जन किया गया जिनको गोपनीय एवं रहस्यात्मक संकेत कहा जा सकता है और जो प्रमुख लिपि में व्यक्त विचारों को

# EXCAVATIONS AT HARAPPA

Volume II

लिपि- द्वय

1. Pl. XCVII 539

2. Pl. XCVII 517

3. Pl. XCVII 502

4. Pl. XCVII 505

5. Pl. XCVII 506

6. Pl. XCVII 551

7. Pl. XCVII 499

8. Pl. XCVII 501
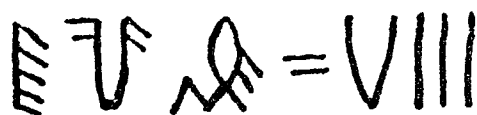
9. Pl. XCVII 542

10. Pl. XCVII 543
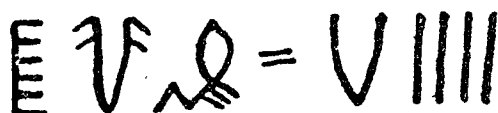
11. Pl. XCVII 521
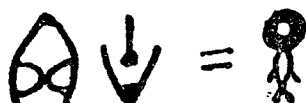
12. Pl. XCVII 545
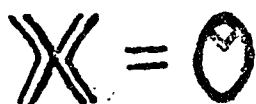
13. Pl. XCVII 546
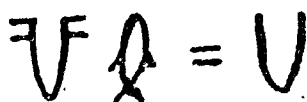
14. Pl. XCVII 518
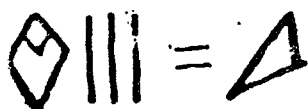
15. Pl. XCVI 442

16. Pl. XCVI 443
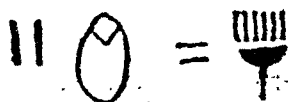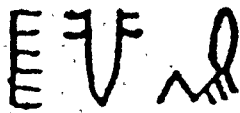
17. Pl. XCVI 489
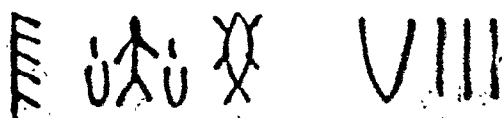
## लिपि-त्रय
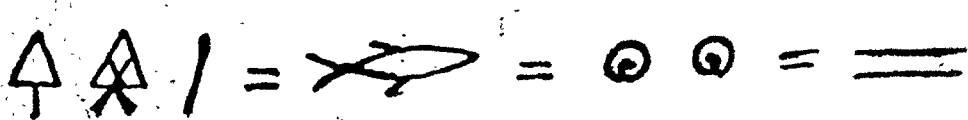
18. Pl. XCVII 575

19. Pl. XCVII 580

20. Pl. XCVII 573

21. Pl. XCVII 576

## लिपि-चतुष्टय

22. Pl. XCIX 635

## वर्णमाला

| सिंधुघाटी | नागरी | सिंधुघाटी | नागरी |
|---|---|---|---|
| | अ | | ग |
| | इ | | घ |
| | ई | | च |
| | उ | | ज |
| | ऊ | | ण |
| | ए | | त |
| | ओ | | द |
| | ऋ | | ध |
| | अनुस्वार | | न |
| | क | | प |
| | ख | | भ |

| वर्णमाला | | संश्लिष्ट वर्ण | |
|---|---|---|---|
| सिंधुघाटी | नागरी | सिंधुघाटी | नागरी |
| | ब | | अग्नि |
| | म | | इंद्र |
| | य | | इंदु |
| | र | | वृत्र |
| | व | | मनु |
| | स | | राष्ट्र |
| | श | | अंन्न |
| | ह | | एकत्रित (एकत + द्वित + त्रित |
| | त्र | | वषट् |
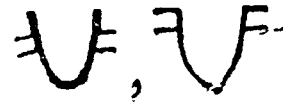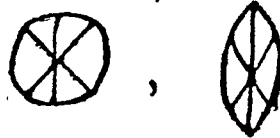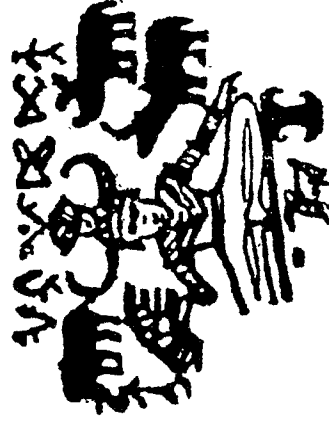
सूत्रशैली में व्यक्त करने की क्षमता रखते थे। इन वर्णों की तुलना, जैसा आगे बतलाया गया है, उन बीजाक्षरों से की जा सकती है जिनका प्रयोग परवर्ती मंत्र और तंत्र-साहित्य में हुआ है।

## लेखन-प्रणाली

उपर्युक्त संक्षिप्त लेखों से सिन्धु-लिपि की सबसे बड़ी विशेषता यह प्रकट होती है कि उसमें कम से कम स्थान घेर कर अधिक से अधिक लिखने और लेख को यथासंभव चित्रात्मक रूप देने की प्रवृत्ति है। उदाहरणार्थ 'इन्द्र' शब्द के इ, न, द तथा र को एक पंक्ति में सामान्य रूप से रखने के स्थान में, ऊपर से नीचे को लिखते हुए एक मानवाकार में लिखना अधिक अच्छा समझा जाता था। इस प्रकार के शब्द यद्यपि चित्र से लगते हैं, परन्तु वे वस्तुतः सिंधु-वर्णमाला[1] के अक्षरों के मिलने से बने हुए शब्द हैं, जिन्हें मैंने संश्लिष्ट वर्ण की संज्ञा दी है। अग्नि, वृत्र, वरुण आदि ऐसे ही संश्लिष्ट वर्ण हैं जो वर्णमाला के अक्षरों से निर्मित होकर चित्रवत् लगते हैं, यद्यपि वे वस्तुतः शब्द हैं। इन संश्लिष्ट वर्णों की तुलना आज-कल की प्रचलित नाम-मुद्राओं से की जा सकती है, जिनमें चित्रात्मकता लाने के लिये अक्षरों के प्रकृत रूप, स्थान, दिशा आदि का भी विचार नहीं किया जाता और कभी-कभी एक से अधिक अक्षर परस्पर ऐसे मिल जाते हैं कि उनके स्वतन्त्र रूप को पहचानना ही असंभव हो जाता है। सिंधु-लिपि में वरुण, वृत्र और अग्नि आदि शब्दों का जो रूप मिलता है वह कुछ-कुछ इसी प्रकार का है।

विद्वानों ने प्रायः इनको चित्र-संकेत के रूप में ग्रहण किया है, परन्तु चित्रात्मक शब्द वस्तुतः वर्णों से बने हुए हैं और मनुष्यादि के चित्र-संकेत नहीं हैं। इसका सर्वोत्तम प्रमाण लिपिद्वय सूची का वह लेखन-समीकरण है जो प्लेट सं० ७ की दूसरी पंक्ति में है।

यहां पर मानवाकार इन्द्र शब्द के इधर-उधर एक-एक उकार है जिसके ऊपर लिखा 'इन्द्र' का आद्यक्षर 'इ' यह बता रहा है कि ये दोनों उकार इन्द्र की संपत्ति हैं। यद्यपि दोनों उकारों के पास लिखे हुए 'सु' तथा 'ऐग्नि' शब्द बतला रहे हैं कि ये दोनों उकार वस्तुतः सोम और अग्नि के हैं। इस प्रकार यहाँ पर वैदिक दर्शन का यह तथ्य स्पष्ट किया गया है कि अग्नि और सोम ज्योतियों के मेल से ही इन्द्र-तत्व बना है और उसी को उम् संज्ञा दी गई है।

---

१. देखिये 'वर्णमाला' प्लेट।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि लेख-समीकरण में दाहिनी ओर जो उम् लिखा है, उसमें हलन्त म सिन्धु-लिपि का साधारण चतुष्कोणी मकार नहीं है, अपि तु, तीन खड़ी लकीरों से बना है, क्योंकि इन लकीरों के द्वारा इन्द्र, अग्नि और सोम के त्रिविध उकारों की संख्या भी बताना अभीष्ट था। इसका अभिप्राय है कि उम् बीजाक्षर में तीनों का समावेश है जिसको बताने के लिये एक प्रकार के मकार का सर्जन किया गया। वैदिक संहिताओं में उम् शब्द सैंकड़ों बार प्रयुक्त हुआ है, परन्तु सिन्धु-मुद्रा के उक्त लेख द्वारा उद्घाटित इस तथ्य को न जानने के कारण सभी वेद- भाष्यकारों ने प्राय: उम् को एक निरर्थक शब्द माना है। वेद के विद्यार्थियों को मालूम है कि यह ऊम् शब्द पद-पाठ में दीर्घ उकार होकर आता है, तो संहिता-पाठ में ह्रस्व उकार के रूप में परिणत हो जाता है। सम्भवत: इसी का संकेत हमें प्लेट ७ की प्रथम पंक्ति के चित्र में प्राप्त होता है।

यहाँ बीच में सिंहासनस्थ व्यक्ति इन्द्र है जिसके सिर पर दो उकारों के मेल से बना हुआ दीर्घ उकार मुकुट की भाँति शोभित हो रहा है, जब कि इंद्र के इधर-उधर बैठे हुए दो पुरुष सोम और अग्नि हैं, जो अपनी-अपनी पृथक् ज्योति के प्रतीक ह्रस्व उकार को भेंट करने के लिये ऊपर उठाये हुये हैं। इस चित्र का अभिप्राय पूर्व लेख के समान यह बतलाना है कि इन्द्र की ज्योति में सोम और इन्द्र दोनों की ज्योतियों की संहिता (संघात) है जिसकी स्थिति मनुष्य के उस सूक्ष्म-शरीर में मानी गई है जिसे ऋग्वेद में 'सुवर्चस तनु' कहा गया है और जो स्थूल शरीर के बाद भी अवशिष्ट रहता है।
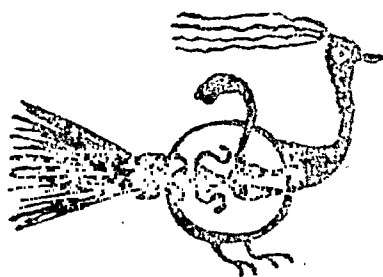
आ० सं० १
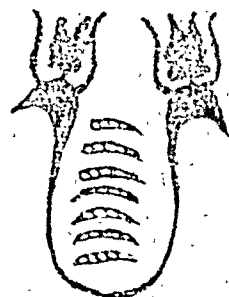
आ० सं० २

इस 'सुवर्च सतनु' को बतलाने वाली आकृति सं० १ है जो मूलत: एक बृहत् उकार के ऊपर इधर-उधर दो लघु उकारों को खड़ा करने से बना है:—
ब्लाक आ० १ (प्लेट ५ में आ० सं० ६) आ० २ (प्लेट ५ में आ० सं० ५)
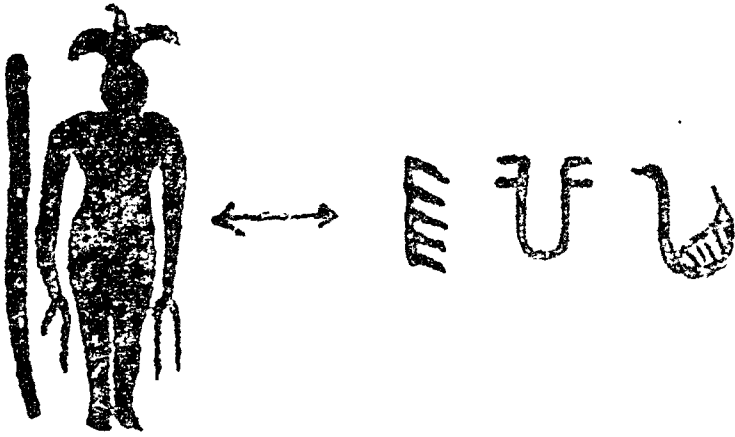
M E H, Pl. XC III, 318 (आ० सं० २)
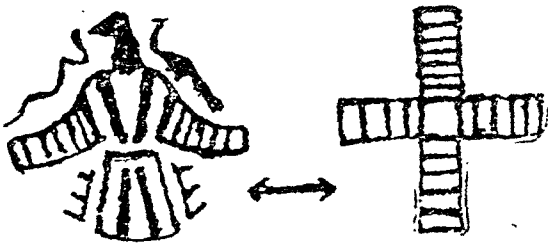
M E H, Pl. XCI, 255 (आ० स० ३)

M E H, Pl. XCI, 256 (आ० सं० ४)

इन तीन उकारों के अतिरिक्त इस चिह्न में दो मयूर-शिर हैं तथा बृहत् उकार के भीतर सर्प के टुकड़े हैं। मयूर निःसन्देह मृतक के सुवर्चस तनु' को ले जाने वाला वैदिक गरुत्मान् अथवा पौराणिक गरुड है जो यहाँ आ० सं० २ में दिखाया गया है और सर्प उस वृत्र का प्रतीक है जो 'सुदास' होकर आत्मा का सहयोगी बन सकता है और उसका विरोधी होकर 'दस्यु' या शत्रु कहलाता है।

## एक विचित्र क्रॉस

इसी प्रकार का विशिष्ट प्रतीक एक विचित्र क्रॉस के रूप में हड़प्पा से प्राप्त मुद्रा सं० २५५ में उपलब्ध है। सामान्यतः क्रॉस सिन्धु-लिपि और ब्राह्मी में वर्ण माना गया है परन्तु प्रस्तुत मुद्रा में (प्लेट सं० ४ आ० आ० सं० ३) इस क्रॉस के केन्द्रस्थान में एक चतुष्कोण बना है जो सिंधु-लिपि का सामान्य मकार है। अत एव प्रस्तुत क्रॉस कम् नामक बीजाक्षर है जिसकी व्याख्या उक्त मुद्रा की दूसरी ओर एक ऐसी श्येनाकृति द्वारा की गई है जिसके फैले हुए पंखों में से बाएँ पर सर्प तथा दाएँ पर मयूर अङ्कित हैं। सामान्य क्रॉस संस्कृत 'क' वर्ण होने से प्रश्नसूचक है और आत्मा के अनिर्वचनीय एवं निर्गुण स्वरूप का प्रतीक है तो उक्त 'कम्' बीजाक्षर उस सगुण तथा विकारोन्मुख आत्मा का द्योतक है जिसमें उन सर्प और गरुत्मान्, वृत्र तथा वृत्रघ्न दोनों का समन्वय है; उन्हीं दोनों को ऊपर उकार त्रय से निर्मित उस 'ऊम्' प्रतीक में देखा जा चुका है जो हड़प्पा में मृतकों के अस्थि-कलशों पर अंकित पाया गया है। जैसा कि पहले[1] लिखा जा चुका है ये तीनों उकार अग्नि, सोम तथा इन्द्र नामक तीन अकारों (शक्तिमानों) की ज्योतियों या शक्तियों के प्रतीक हैं। उक्त क्रॉस में तीनों शक्तियां एक-एक में परिणत होकर क्रमशः खड़ी और पड़ी रेखाओं के रूप में एक दूसरे को एक मकारात्मक केन्द्र पर काट कर अ, उ तथा म से ओ३म् शब्द का निर्माण करती हैं।

## त्रिविध अकार और त्रिलिंग

जो अविकार आत्मा का अकार यहाँ खड़ी लकीर के रूप में हैं, वही सविकार आत्मा में नारिकेलोपम अथवा दीपशिखोपम होकर सिन्धु-लिपि का द्वितीय अकार माना जाता है और उक्त इन्द्र, अग्नि, सोम तथा इन्द्र नामक

---

१. सिन्धु-लिपि में उपनिषदों और ब्राह्मणों के प्रतीक।

तीन शक्तिमानों के संयुक्त रूप में त्रिलिंगात्मक 'अकारत्रय' के उस संयुक्त प्रतीक के रूप में लिखा जाता है जो ऊपर प्लेट सं० ७ के लेख में प्रारम्भ से तृतीय चिह्न के रूप में है। इस चिह्न के पूर्व लिखा हुआ 'वृत्रद्वय' शब्द चित्र के दोनों सर्पों का द्योतक है जो क्रमशः अग्नि और सोम के ऊपर छाया कर रहे हैं, जब कि संयुक्त त्रिलिंग इंद्राग्नि-सोम की संयुक्त इकाई का द्योतक है और उसके पश्चात् अंकित शब्द 'ऐग्नि, न मन' बता रहे हैं कि यह पूरा चित्र आग्नेय शक्ति (प्राण) का प्रतीक है, मन का नहीं।

### नाकं—सु ३

इसी प्रकार का एक संयुक्त बीजाक्षर 'नाक–सु ३' है (आ० सं० ४ प्लेट सं० ४) जो पूर्वचर्चित अनान्नाद प्रतीक का ही एक रूपांतर है। प्रस्तुत बीजाक्षर की व्याख्यास्वरूप 'अन अग्नि षण्मन नर' लेख है जिसका अभिप्राय है कि उक्त बीजाक्षर अन-नामक अग्नि तथा षड्विध मन से युक्त 'नर' देह का प्रतीक है। बीजाक्षर के ऊपरी भाग में उकारात्मक ऊर्ध्वबुध्न (उलटा) चमस है जिसके भीतर तीन बार 'सु' त्रिपृष्ठ पवमान सोम का संकेत है, और निचले भाग में नकार को दण्डाकार अकार काटता है तथा दोनों भागों को मिलाने वाला मध्यवर्ती अक्षर 'कं' दो वक्र रेखाओं से बनाया गया है; साथ ही ऊर्ध्व-बुध्न सोमचमस से आती हुई षड्विध मन की धारायें दिखाई गई हैं। इसकी तुलना तैत्तिरीयोपनिषद् के उस 'ऊर्ध्वपवित्र' त्रिशंकु अमृतोक्षित सुमेधा से की जा सकती है जो शरीररूपी वृक्ष का प्रेरक कहा गया है—

अहं वृक्षस्य रेरिवा, कीर्तिः पृष्ठं गिरेरिव।
ऊर्ध्वपवित्रो वाजिनीव स्वमृतमस्मि॥
द्रविणं सवर्चसम् सुमेधा अमृतोक्षितः।
इति त्रिशंकोर्वेदानुवचनम्।

यह संयुक्त बीजाक्षर अथवा प्रतीक अपने नाना रूपांतरों में सिन्धु-मुद्राओं पर बने एकश्रृंगी पशु के सामने पाया जाता है। कुल एकश्रृंगी मुद्राओं की संख्या अब तक लगभग १००० तक पहुँच चुकी है, अतः उक्त प्रतीक के सभी रूपांतरों की व्याख्या यहां पर सम्भव नहीं है, फिर भी कुछ प्रमुख प्रकारों पर प्रकाश डालना आवश्यक है।

(क्रमशः)

(जिस एकशृंगी पशु का चित्र यहाँ दिया जा रहा है वह सिंधुघाटी में प्राप्त मुद्राओं पर सर्वाधिक संख्या में पाया जाता है। इस पशु के विषय में विद्वानों ने विभिन्न मत व्यक्त किये हैं; 'स्वाहा' के प्रथम अंक में इनका उल्लेख करते हुये प्रस्ताव किया गया था कि यह एकशृंगी पशु वैदिक साहित्य का वही 'अज' है जिसे मैत्रायणी-संहिता में मनुष्य सहित सभी पशुओं का प्रतिनिधि माना गया है और जो जीवात्मा के विविध रूपों का प्रतीक होकर एक अथवा अनेक रूपों में हमारे सामने आता है। इस प्रस्तावित मत की सम्यक् समीक्षा के लिए एकशृंगी मुद्राओं पर प्राप्त सभी लेखों का सामने होना आवश्यक है। अतः 'स्वाहा' में एकशृंगी मुद्राओं के सभी लेखों को प्रकाशित करने की योजना है, परन्तु साधनाभाव के कारण, सभी को एक साथ प्रकाशित करना सम्भव नहीं। अतः इस अंक में केवल ९९ लेख दिये जा रहे हैं —फतहसिंह )

(1) अषण्मन अगुधा उमा
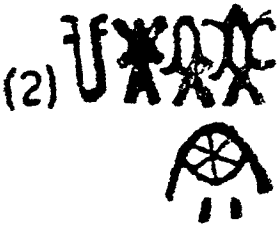
(2) वृत्रेन्द्राग्नी ऐग्नि, न अन्नानि

(3) मनचतुर्विध अन (?)
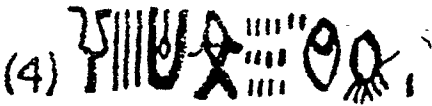
(4) (अंतिम दो शब्द खंडित) वां उमाऽग्नि द्वादश, न अन भारत्र (?)
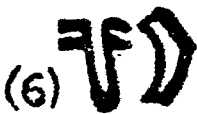
(5) राण्ट्रवृत्रमखज अग्नि

(6) (दायें से बाएँ) णवृत्र

(7) श्री नान्हीं उमा, न अग्नि असि,
न (हंस) अमना अमानि

(8) ज्ञानाद्य

(9) (प्रथम और अंतिम चिह्न अस्पष्ट)
कम् उमा ऐग्नि अग्नि, न अश्वविद्या
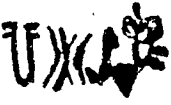
(10) वृत्र ऐन्द्र मैत्र जस्न, न अन्ना

(11) (दायें से बाएं) मनन ऐग्नि एाद ऐन्द्रद
वृत्र नोवा इल-अहं श्री

(12) वृत्र असि, न वरुणावृत्र, वरुण-
जनराष्ट्रमनः त्रिलिंगेष्टि परा इंद्रधा
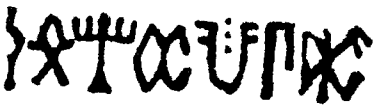
(13) वृत्रवरुण जन शत्रुगण

(14) वृत्र नक्षत्र ऐग्नि, अग्नि अनान्न, न अन

(15) भारत्र इंद्रधा मग

(16) दकना (दक्षिणा), न अग्नि त्रिवृत मख-चतुर्विंश
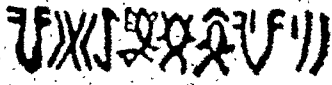
(17) इरा अग्नि मैत्र अन्न त्रिवृत्रज अन्नानि

(18) अमम्मा उमा नोधा

(19) अश्रि अग्निमान अन
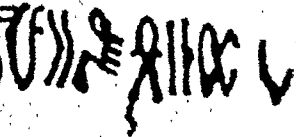
(20) [Indus script] — वृत्रवहणाजन शद्र गण ऐग्नि, न अग्नि एकवृत हरा

(21) [Indus script] — वृत्र त्रिलिंग (त्रि-अन) उस, न अन

(22) [Indus script] — वत्रनरजशनअग्नि अनान्न (सूक्ष्म) अन्न (स्थूल).

(23) [Indus script] — वृत्र ऐन्द्र, न अग्नि, अग्नि एकवृत अर नर

(24) [Indus script] — ससस

(25) [Indus script] — अवृत्र उकारत्रय ना, न अनान्नमग्न

(26) [Indus script] — वृत्र ऐन्द्र जस्न, अमाऽर

(27) अश्विन द्विवृत्र न नर

(28) वृत्र-उकारद्वय ना, एक अत्रि नाना

(29) दम, न अन

(30) अत्रि, अग्निमैत्र नाना, न अन

(31) वृत्र अहन्-अन्न
अग्नि, न दानद वरुण अन्नांश (सूक्ष्म)

(32) वृत्र सप्त मन

(33) ना ६, न अम अहन्-अन्न

(34) अनर ऐग्नि इष्टि अश्व वसुदा

(35) अन्ना इन्द्रमैत्र पंच पाप

(36) उमा-नोधा षण्मन

(37) एकनर, न अनान (सूक्ष्म), न अन (स्थूल)

(38) वृत्र रस अम न अग्नि

(39) अत्रि अग्नि, त्रिवृत्र अर नर

(40) वृत्र अनान्न यलाग्नि न इंद्र-अन

(41) पापन वषट् इन्द्राऽव

(42) वृत्र अन्न, न अग्नि

(43) नपापन असि

(44) सनादना (सनातना)

(45) (प्रथम अक्षर खंडित) अन्न ऐग्नि, अग्नि अन्नान, न असद् उमा अनान्न भावत्र

(46) अ-इष्ठ अग्नि अनाग्न, न ज्ञानवान्

(47) वृत्रज्ञान, अज्ञान, न इंद्री पंचपाप

(48) न ज्ञान, अजंतंतम पंच

(49) ज्ञ अम, न अग्नि न पाथ अपां
नाम अप वृत्र

(50) (दायें से) ऐग्नि अन्नवृत्रगुण

(51) वृत्र उकारत्रय इन्द्र राष्ट्रदार ऐग्नि,
न अमन मडन असि

(52) न पंच मन, षट् आननम् दस्र

(53) रस अरंदा

(54) (दायें से) न उमा न अशन, नम शम

(55) वन एकवृत, न अग्नि न मन

(56) वृत्रमन्म जस्न, न रसदुरा परा

(57) न दार, न अन्नवित्त

(58) वृत्र-वषट्, न अग्नि न ज्ञा इन्द्रधा भारत्र

(59) रस उमा इ अन्ना

(60) अत्रि नावाग्नि ऐग्नि, न त्रित इन्द्रधा अनान्न

(61) पूर्णषोडसाग्नि इष्टि असि न अंश

(62) इ अश्व मन मन्मसदननड अरंदा

(63) अश्व ननर्त इन्द्रधा

(64) सिंदुधा त्रिवृश्र

(65) रस नव अग्नि वाम

(66) इन्दुवृत्रा ऐन्द्रा सप्त अन्नानि (सूक्ष्म)

(74) ज्ञा-त्रिलिंग ऐग्नि असि, न मन

(75) वृत्रज अग्नि अनान्न एकवृत ज्ञ अम

(76) अनान्नवृत्र; न अग्नि अनान्न, न मन

(77) वृत्र भारत्र भारत्र

(78) नऋष्ट्र अकारत्रय इन्द्र-इंद्रू

(79) वृत्र तन अन

(80) वृत्रवरुणजन शत्रुगण अग्नि अनान्न ऐग्नि, न अग्नि, न ज्ञा इन्द्रधा षणमन

(81) अत्रि अग्नि ऐग्नि असि,
न अन्ना

(82) एकवृत्र उकारत्रय मम अग्नि

(83) (इष्ठ) अग्नि डसवृत्र वामग

(84) (प्रथम वर्ण खंडित) रसम्, न मन

(85) ऐग्नि, वृत्रवषट् वृत्रवेष्टितहंस

(86) अत्रि नावाऽग्नि मैत्र, न मन

(87) त्रवृ असि अग्नि ११ वरुण

(88) शतान्ना ऐग्नि, न अन

(89) वृत्र त्रिदक्ष ऐग्नि, न मन इ

(90) वृत्र वषट्, न अग्नि न मन

(91) वृत्र ऐग्नि, नक्षत्र एकवृत्र त्रिलिंग-शनानि (नरिष्ठ)

(92) वृत्रमन्मसदननडनर, ११ वरुण

(93) त्रिशमखशत्रुगण वलन ह वरुण

(94) वरुण मा मा

(95) अत्रि अग्नि, अश्व अन

(96) वृत त्रिदशनावाऽग्नि असि, न मनन

(97) अत्रि नावाग्नि असि द्वादश, न अन्ना

(98) दार एकवृत्र, १०१ वरुण

(99) वृत्र अन्न (स्थूल) अग्नि एक वृत्रजन

कविवर-श्रीहेमरत्नप्रणीतो

# भा व प्र दी पः

## [ प्रश्नोत्तरकाव्यम् ]

---

॥ई०॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

श्रीमते [1]विश्वविश्वैकभास्वते शाश्वतद्युते ।
केवलज्ञानिगम्याय नमोऽनन्ताय तेजसे ॥१॥

[2]प्रभूतभूतिप्रविभूषिताङ्गकः, प्रध्वस्तकामः समकामदः[3] सदा ।
प्रभुर्विभूनामपि मंगुलार्गलः,[4] स मङ्गलं रातु वृषध्वजो विभुः ॥२॥

पञ्चाननाङ्कितजगत्प्रभुपादसेवी,
श्रीमद्विलोलविकसत्करपुष्कराग्रः ।
विघ्नौघपाटनपटुः कटुकण्टकुट्[5] च,
निर्मातु मङ्गलगणं गुणवान्गणेशः ॥३॥

नमः समाजस्थितसज्जनेभ्यः, प्रसन्नचित्ताननपङ्कजेभ्यः ।
परप्रणीतान्यपि ये वचांसि, स्वभावभेदैः परिभूषयन्ति ॥४॥

श्रीविक्रमाख्ये नगरे गरिष्ठः, प्रज्ञाप्रपञ्चेऽस्तितमां पटिष्ठः ।
मन्त्रप्रयोगे प्रथितप्रतिष्ठः, श्रीकर्मचन्द्रः सचिवो वरिष्ठः ॥५॥

तत्प्रार्थनाजातपरप्रमोदः, स्वान्तस्य तस्यैव विनोदहेतोः ।
कुर्वे नवीनं कमनीयकाव्यै - र्भावप्रदीपाभिधशास्त्रमेतत् ॥६॥

श्रीवत्सराजान्वयमौलिरत्नं, संग्रामसिंहस्य तनूजराजः ।
श्रीराजसिंहाभिधभूपमित्रं[6], श्रीकर्मचन्द्रः सचिवः स जीयात् ॥७॥

---

१. ब. समस्त । २. ब. प्रचुर । ३. ब. समग्रं सकलं सममिति । ४. ब. मंगुल-शब्दो देश्यः, मंगुलस्य अशोभनस्य अर्गलेति, कल्याणः । ५. ब. कटुवकार्ये त्रिषु मत्सरतीक्ष्ण-योरित्यमरः । ६. ब. प्रतौ 'मन्त्री' इति पाठान्तरम् ।

न हि निखिलशास्त्रबोधो मतिरपि विमला न तादृगभ्यासः ।
किन्तु कवित्वे शक्तिर्गुरुरेकः[1] कारणं मेऽत्र ॥८॥

सस्नेहमुत्सङ्गनिवेशितोऽम्बया[2], वक्षोजविध्वस्त[3]-महेभकुम्भया ।
शीर्षं गणेशः खलु शङ्कया कया, पस्पर्श विद्वन् वद पृच्छ्यते मया ॥९॥

कुम्भावुभावपि ममाङ्कगतस्य मातु-
र्लग्नाववश्यमिति वक्षसि शैशवे [सः]* ।
[श]ङ्कासमाकुलितचित्तमिभाननः स्वौ,
कुम्भौ करेण झटिति स्पृशति स्म तेन ॥१०॥

काचिच्चञ्चललोचना नववधूः प्रातर्मुखं दर्पणं,
प[श्यन्ती शि]थिलालकं पतिरतिप्राग्भार[4]-संसूचकम्[5] ।
एकान्तस्थितिमाश्रिताऽपि च पराङ्वक्त्राऽपि [6]भूरित्रपा-
वीचिव्यूह[7]-निमग्नचित्तचटुला क[स्मादकस्मा]दभूत् ॥११॥

पृष्ठस्थितस्य निजजीवितवल्लभस्य,
वक्त्रारविन्दममलं मुकुरे समीक्ष्य ।
श्रीकर्मचन्द्रसचिवेश्वर ! तेन चैषा,
[लज्जावती नव]वधूः सहसा बभूव ॥१२॥

काचित्कुलीनवनिता रमणेन दूर-
देशात् सुकङ्कणयुगं प्रहितं निरीक्ष्य ।
निःश्वासदग्धदशनच्छद[8][माप्तदुःखा],
[गूढं[9] रु]रोद वद कोविद किं निदानम् ॥१३॥

---

१. ब. केवलः । २. अ.ब. पार्वत्या । ३. अ.ब. तिरस्कृतौ । ४. अ.ब. आधिक्यं । ५. अ.ब. कथकं । ६. अ.ब. वल्ली । ७. अ.ब. समूहं । ८. ब. दन्तपत्रम् । ९. ब. गुप्तम् ।

*—[ ] अ. पुस्तके भग्नपत्रत्वादत्र कोष्ठकान्तर्गतांशो ब. पुस्तकादुद्धृतः । एवमग्रेऽपि सर्वत्र कोष्ठकान्तर्गतांशाः ब. पुस्तकादेवोपन्यस्ता ज्ञेयम् ।

नाथः समां विरहवह्निकृशां न वेत्ति,
नाऽसावपीह विरहा[तुरचित्तवृ]त्तिः[1] ।
[नो चेत् कथं पृथुलकङ्कणयुग्ममत्र]
मां मुञ्चतीति विगणय्य[2] वधू रुरोद ॥१४॥

काचिन्निजं कान्तमवेक्ष्य कोप-कल्लोल[मग्नावनताननाभूत्] ।
[तत्कारणं पृच्छति सत्यमुष्मिन्[3]], [किं दर्पणं तस्य] करे [ददौ सा]॥१५॥
अन्यांग[ना नय]नपङ्कजचुम्बनेन, कृष्णाधरस्ति[लकचित्रितभालदेशः] ।
[अप्येष पृच्छति रुडुद्भवहेतुमस्मात्, सा दर्पणं वितर]ति स्म करे तदीये
॥१६॥

[काचि]न्निजे भर्त्तरि दूरदेशं, सम्प्र[स्थिते तत्कुशलेषिणी सा]
[गच्छाशु माऽभूत्तव] दर्शनं मे, शीघ्रं वधूरेवमुवाच कस्मात् ॥१७॥
तद्यान[4]-माकर्ण्य मृतामवश्यं, मुक्त्वा [समायाति तदेत्य वल्गु[5]] ।
[मा दर्शनं मेऽस्तु] ततो मृताया, नाथस्य शीघ्रं बहुजीवितस्य ॥१८॥

पूर्णाङ्कमुखी[6]-महं हृदि मम त्रस्तैणशावेक्षणे,
[त्वामद्यैव विभावयामि[7] च नि]जप्राणप्रिये[8] स्वप्रियाम् ।
इत्थं जल्पति हास्यपेशल[9]-मथो सा स्वं करेण[10] द्रुतं,
गल्लं फुल्लमधूकपुष्पपुलिनं पस्पर्श वस्त्रेण[11] [किम्] ॥१९॥
पूर्णे चन्द्रमसि ध्रुवं[12] बत भवत्येव स्फुटं लाञ्छनं,
नास्मद्वक्त्रसरोरुहेऽतिविमले कालुष्यलेशोऽपि च
तज्ज्याने खलु सोपमान[वचसाऽनेना]धुना कज्जलं,
गल्लेऽस्तीति ममार्ज[13]लोलनयना हस्तेन गल्लस्थलम् ॥२०॥

---

१. अ. पीडितव्यापारः । २. ब. विचार्य । ३. ब. भर्त्तरि । ४. अ. गमनम् ।
५. ब. चारु । ६. ब. अंककलङ्कोऽभिज्ञानम् । ७. ब. जानामि । ८. ब. भर्त्तरि ।
९. ब. मनोहरं । १०. ब. कृत्वा । ११. ब. सह । १२. ब. निश्चितम् । १३. ब. मृजूष् शुद्धौ ।

निशि वियोगवती युवती गृहे, विधुमवेक्ष्य नभोऽङ्गणमध्य[गम्]।
[स]खि समानय दर्प्पणमाशु मे, क्षुरिकया सह चेति कथं जगौ ॥२१॥

दहति मामयमेणभृदातुरां, चरति चाऽलि ! दवीयसि पुष्करे[1]।
तदमुकं[2] मुकुरान्तरुपागतं, क्षुरिकया[3] प्रविभेत्तुमिदं जगौ ॥२२॥

मातुर्निजायाः पदपद्मयुग्मं, नत्वोपविष्टः पुर एकदन्तः।
पस्पर्श मूर्द्धानमसौ करेण, कस्मादकस्माद् वद कोविदेन्द्र ! ॥२३॥

गौरीपदाम्भोजयुगप्रजाता - रुणत्वरक्तीकृतमीक्ष्य भूतलम्।
स्वकुम्भसिन्दूररजोभिशङ्कया, मूर्द्धानमेष स्पृशति स्म तेन ॥२४॥

सुदति पृच्छति[4] भर्त्तरि "[5]गद्यता - मितरदेशगतोऽभिमतं[6] तव।
अहमिह प्रहिणोमि[7] किमादरात्, तदनु साम्भसि किं तिलमक्षिपत् ॥२५॥

तिलकयोर्व्यतिषङ्गवशादसौ, तिलकमेव निवेदयति स्म तम्।
इतरथा कथमेव जले तिलं, क्षिपति मन्त्रिप ! कं परनामनि[8] ॥२६॥

कश्चिद्युवा युवतिवक्त्रमवेक्ष्यमाणो,
नाऽहं विलोचनयुगो धृतिभाग् भवामि।
एवं विचिन्तयति चेतसि तावदासीत्,
सद्यः स कोविद वदाशु कथं षडक्षः[9] ॥२७॥

स स्वकीयनयनद्वयमध्ये, बिम्बितप्रियतमानयनोऽभूत्।
एवमेव[10] सचिवेश्वर ! सद्यः, सोऽभवन्नयनषट्कसमेतः ॥२८॥

तदभिलषितकान्तोपान्ततोऽभ्यागताशु,
स्ववगततदभिप्राया[11] समागत्य दूती।
तरुणमरुणरश्मिस्पृष्टपङ्केरुहास्यं,
जनवृतमभि दृष्ट्वा सर्षपं तत्करेऽदात् ॥२९॥

---

१. व. खे। २. व. चंद्रं। ३. व. विदारयितुं। ४. व. सति. ५. व. इति इति त्वया। ६. व. ईप्सितं। ७. व. प्रेंखयामि। ८. व. अलुकामासः। ९. व. षट् अक्षीणि यस्य, नयनानां षट्कं तेन। १०. व. अनेन प्रकारेण। ११. व. शोभनोऽवगतस्तस्या अभिप्रायो यया सा।

शीघ्रमेव समागत्य दूत्याथ कृतकृत्यया ।
सर्षपस्यैव दानेन सिद्धार्थोऽसीति सूचितम् ॥३०॥

अभ्यर्णमभ्येत्य[1] हरेः स्वभर्तुः, प्रसन्नचित्ता परिरम्भणाय ।
जगाम कस्माच्चटुवादिनोऽपि[2], पराङ्मुखी सत्वरमेव पद्मा ॥३१॥

तद्वक्षस्थलकौस्तुभे निजवपुर्दृष्ट्वेति जातभ्रमा,
नूनं नाहमरेर्मुरस्य हृदि यत् पश्यामि तत्राऽपराम् ।
पद्मा तेन समौनकोपकलिता[3]-ऽभ्यर्णं समेताऽपि च,
[4]प्रास्तप्रीतिभरा[5] स्म गच्छति शृणु श्रीकर्मचन्द्रप्रभो ! ॥३२॥

प्राणप्रिये [6]दभ्रदिनैः समेते, देशान्तराददर्ति[7] सम्प्रयोगम्[8] ।
काचित्कुरङ्गीनयना निशायां, मूर्द्धन्यमुञ्चत्कथमाशु पुष्पम् ॥३३॥

अहं पुष्पवती कान्ता कथमायामि साम्प्रतम् ।
सम्भोगो नाधुना योग्यश्चेति ज्ञापितमेतया ॥३४॥

काचित्कोविद कामिनीकरतलेनादायकिञ्चित्फलं,
दृष्ट्वा दष्टमिदं खगेन सहसा केनाऽपि किञ्चित्ततः ।
शङ्कासंकुचिता सती निजकरे सा वै दधौ दर्पणं,
निःशङ्काथ निराचकार च करात्मौनान्विता तत्फलम् ॥३५॥

विलोक्य विम्बाह्वफलं शुकेन, दष्टं मृगाक्षी पतिखण्डितौष्ठी ।
सादृश्यशङ्का धृतदर्पणासीद्, विचिन्त्य तत्कुत्सितमित्यमुञ्चत् ॥३६॥

पत्युः [9]प्रवाससमये मृगशावकाक्ष्या,
पृष्ठे पुरा[10] भवति कर्हि[11] समागमस्ते ।
स स्वाग्रजं सति पितर्यपि वल्लभायाः,
कस्माददर्शयदसौ वद कोविदाऽऽशु ॥३७॥

---

१. ब. समीपमागत्य । २. ब. चटुचाटुप्रियप्रायं । ३ ब. व्याप्ता । ४. ब. ध्वस्त । ५. ब. समूह । ६. ब. तूर्यदभ्रं पुरस्फिरमिति कोशः । ७. ब. याचयति सति । ८. ब. संवेशनं । ९. ब. प्रयाण । १०. ब. पुरा योगे भविष्यतार्थता । ११. ब. कदा ।

ज्येष्ठदर्शनतोऽनेन ज्येष्ठमासो निवेदितः ।
तद्देशमागते वाऽस्मिन् भविष्यति ममागमः ॥३८॥

काचित्कोपनिरुद्धवागवनता[1]-ऽश्रुव्याप्तनेत्राम्बुजा,
पत्याऽगो[2]-ऽनलदह्यमानहृदयाऽपास्त[3]-प्रियप्रीतवाक् ।
कुर्वाणे निजभर्त्तरि [4]क्षुतमथो सा किं ललाटे निजे,
चित्रं रत्नकरैर्विचित्रमकरोदाचक्ष्व तत्कारणम् ॥३९॥

कुर्वाणे मम भर्त्तरि [5]क्षुतमहं जीवेति वाक्यं न चे-
ज्जल्पाम्याशु तदा व्रजत्यवसरश्चेद् वच्मि [6]तद्याति मे ।
मौनं मानभवं विचार्य तरुणीति स्वे ललाटेऽकरो-
च्चित्रं तेन[7] निवेदितं स्फुटतरं जीवेति वाक्यं यतः ॥४०॥

कश्चित्तृषार्त्तो मतिमान्निदाघे, हस्तस्थनीरोऽपि निजालयस्थः ।
किं शून्यमालोक्य पपौ न वारि, ब्रूतात् कवे तद्यदि बुद्धयसे त्वम् ॥४१॥
दृष्ट्वाकाशं शून्यमृक्षेन्दुसूर्यैः, सायं नायं नीरपानं चकार ।
विश्वव्यापिप्रोज्ज्वलश्लोकराशे,[8] वर्यं वार्यत्राखिलैर्यन्मुनीशैः ॥४२॥

कश्चिद्विनीतो नयविद्गृहस्थो, [9]निर्दम्भमालोक्य गुरुं[10] पुरस्तात् ।
नाभ्युत्थितो नाऽपि गतः समीपं, ननाम नासीन्न तथापि निन्द्यः ॥४३॥
वियति[11] जीवमुदीक्ष्य समुद्गतं, न नमितः स निजं न तु सद्गुरुम् ।
सचिवशेखर ! तेन स ना जनै-र्नयरतैरपि नैव विगर्हितः[12] ॥४४॥

काचित्कुरङ्गीनयना निशाया-मात्माननस्पर्द्धिनमिन्दुमुच्चैः ।
आलोक्य भूस्थापि कुतूहलाय, जग्राह हस्तेन कथं वदाशु ॥४५॥
दर्प्पणान्तःप्रविष्टं सा रोहिणीरमणं निशि ।
[13]तरसा [14]करसाच्चक्रे कौतुकेनैव कामिनी ॥४६॥

---

१. व. प्रती वनिता इति पाठः । २. अ. अपराधः । ३ व. निराकृता । ४. व. छिक्का । ५. व. प्रतिमहं । ६. व. तर्हि । ७. चित्रकरणेन । ८ यशस्विन् । ९. व. निष्कपटं । १०. व. जीवं । ११. व. आकाशे । १२. ब. निन्दितः । १३. व. वेगेन । १४. व. कराधीनं करसात् ।

गगनसरसि हंसीभूत एणाङ्कबिम्बे-
ऽभिमतरमणधिष्ण्या[1]-म्भोजभृङ्गीभवित्री[2]।
अपि पथि जनयुक्ते स्वैरिणी किं प्रयान्ती,
नयनविषयमेषा न प्रयाता जनानाम् ॥४७॥

धृतसिताम्बरभूषणलेपना, [3]कुमुदराजिविराजितविग्रहा[4]।
धवलिते शशिनाऽखिलभूतले, न कुलटेति गता पथि लक्ष्यताम् ॥४८॥

कश्चित् कथञ्चिन्निजचित्तचारो, लब्धः सुमाल्याम्बरभूषणोऽपि।
भुक्तः स नो [5]वासकसज्जयाऽपि, नासावपोमां बुभुजे किमेतत् ॥४९॥

कान्ता रूपमतीवसुन्दरमलङ्कारैरलं भूषितं,
दृष्ट्वा मन्मथमूर्च्छितः स तरुणश्चक्रे स्वशुक्रच्युतिम्[6]।
सद्यः प्रेक्ष्य मनोभवोपममिदं साऽपि द्रवत्वं गता
सम्भोगः प्रथमस्तयोरिति गतः सिद्धिं न तत्र क्षणे ॥५०॥

परस्परं रूपविमोहितौ तौ, गतौ द्रवत्वं समकालमेव।
ततस्त्रपाभारभरावभूता[7] - मन्योन्यमेतेन न सङ्गसिद्धिः ॥५१॥

पाठान्तरम्[8]

भर्तुर्वियोगेन विषण्णचित्ता, [9]काचित् कुरङ्गीनयना निशीथे।
उद्वेजकं[10] सर्वमपीति मत्वा, कस्मात्करानेणभृतः सिषेवे ॥५२॥

तत्राप्येते शशधरकरा[11] मत्पतेरङ्गसङ्गं,
कुर्वन्त्येव ध्रुवमिति वधूश्चेतसि स्वे विचिन्त्य।
तानत्रापि स्वपतिवपुषालिङ्गितानिन्दुपादान्,
प्रेष्ठान्कष्टादपि विरहिणी चक्रवाकीव भेजे ॥५३॥

---

१. ब. गृहं। २. ब. अमृङ्गी मृङ्गी भविष्यति। ३. ब. श्वेते तु तत्र कुमुदम्। ४. ब. इन्द्रियायतनमङ्गविग्रहाविति। ५. ब. भवेद्वासकसज्जासौ सज्जिताङ्गरतालया। निश्चित्यागमनं भर्त्तुर्द्वारिक्षणपरा यथा। ६. ब. शुक्रं रेतो बलं वीर्यं। ७. ब. बभूवतुः। ८. ब. पाठान्तरेण। ९. ब. सती। १०. ब. उद्वेगकारकं। ११. ब. चन्द्रमाः कुमुदबान्धवो दशश्वेतवाज्यमृतसूस्तिथिप्रणी।

'नैशसंतमस'संचयराहु - ग्रस्तदृक्प्रसरपंक्तिहयोऽपि[2] ।
कोऽप्यचित्रितमपीह सचित्रं, हस्तमैक्षत समस्तमिदं किम् ॥५४॥

किमत्र चित्रं गगने निशायां, हस्तं स चित्रायुतमप्यपश्यत् ।
विचार्यते किं मुहुरेष चार्थो, दृष्टोऽपि नित्यं बहुभिः स्वनेत्रैः ॥५५॥

जित्वा रिपुबलमखिलं समिति[3] झटित्येव कर्मचन्द्र ! त्वम् ।
धृतजयलक्ष्मीकोऽपि हि, नातुष्यस्तत्र को हेतुः ? ॥५६॥

अधिकसूरतया समरोत्सवं, रचयतस्तव वीतमिमं क्षणात् ।
सचिवशेखर ! तेन जिताप्यभू-न्न रतिदा रतिदापि पताकिनी ॥५७॥

युवा कोऽपि प्रातर्विषमविशिखो[4]-द्वेजितमना
अमुञ्चद् बन्धूकप्रसवमुडुपास्यामभिमताम् ।
ततः साऽपि प्राप्य प्रियहृदयभावं स्मितमुखी,
हरिद्रामेवामुं कथय किममुञ्चत् कविवर! ॥५८॥

बन्धूकपुष्पेन स मध्यमह्नः, संकेतहेतोः कथयाम्बभूव ।
सा दर्शयामास हरिद्रयाऽथो, दोषामदोषामिति मन्त्रिराज ! ॥५९॥

काचित्पत्रममत्रमत्र मदनव्यापारवारः[5] स्फुरत्-
प्रीतिस्फातिकरं[6] करेण सहसोन्मुद्रय[8] प्रियप्रेषितम् ।
अत्यौत्सुक्यभरं दधत्यपि पतिप्रीत्याथ तद्वाचने,
सैकाकिन्यपि तत्तथैव सुचिरं संवृत्य तस्थौ कथम् ॥६०॥

पत्रं विलोक्य प्रियमुक्तमेषा, यावत्प्रवृत्ता खलु वाचनाय ।
तावज्जलं नेत्रयुगात्प्रभूतं, प्रवृत्तमेतेन न वाचितं तत् ॥६१॥

कश्चित् स्वकान्ताकरकुड्मलस्थं[7], मुक्ताफलानां निकरं निरीक्ष्य ।
प्रोतस्तम[त्तुं] स समुत्सुकोऽभूत्, किं कारणं तद्वद कोविदाशु ॥६२॥

---

१. व. अन्धकारं । २. पंक्तिशब्दो दशवाची, पंक्तिहयाः यस्य । ३. व. संग्रामे । ४. व. बाणाः, विषमविशिखा यस्यासौ कामदेवः । ५. व. प्रतौ 'व्यापारवारं' इति पाठः । व. विस्तार । ६. व. वृद्धिकरं । ७. उद्घाटय ।

सुरक्तकान्ताकरकोरकस्थं[1], सद्दाडिमीबीजचयं विचिन्त्य ।
मुक्ताफलानामपि राशिमासी-ज्जघ्नुं[2] समासक्तमनाः स नाऽऽशु ॥६३॥

काचिदम्भोजमादाय प्रातः सौरभ्यसुन्दरम् ।
सादरं सदरा साऽथो कथ तदजहात् करात् ॥६४॥

निशि यदा ननु संकुचितं कजं, सपदि तत्र गतोन्तरलिस्तदा ।
उषसि तन्निगृहीतमिदं तया, श्रुतरवं च ततो मुमुचे करात् ॥६५॥

पत्रं मषी लेखनिका प्रदीप:, साऽप्यप्रमत्ता रमणे रताऽपि ।
एवं समग्रे मिलितेऽपि हेतौ, लिलेख लेखं न हि सा किमेतत् ॥६६॥
यावत्प्रवृत्ता लिखनाय लेखं, सम्मील्य[3] वस्तून्यखिलानि चैषा ।
तावत्प्रवृत्तं नयनाम्बु भूरि, तेनाऽलिखल्लेखमसौ न नारी ॥६७॥

[4]कुमुद्वती भर्त्तरि हर्तुमुद्यते, हृद्यंशुपादैः प्रियविप्रयुक्ता ।
काचित्कलैः कोकिलकेलिवाक्यैः, किं दुस्सहैरप्यतिशर्म लेभे ॥६८॥
परभृता वचनानि कुहूः कुहू[5]—रिति निशापतिनाशकराणि तैः ।
श्रुतिगतैः शशिरश्म्यतिपीडिता, विरहिणीति सुखं लभते स्म सा ॥६९॥

हृदो मुदः कारिणि पञ्चवक्त्रे, दातुं समालिङ्गनमागतेऽपि ।
गौरीगृहस्तम्भ[6]-मनन्तभीतिः, प्रत्यग्रहीत् कोपपराङ्मुखी किम् ॥७०॥
पञ्चास्ये निजनायके गृहलतादूर्ध्वं समागच्छति,
क्षोणीभृत्तनयान्तिके तनुपरीरम्भाय[7] सत्युत्सुकम् ।
वक्षोजप्रतिबिम्बिते दशमुखं मत्वा पुनस्तत्कृतं,
स्मृत्वा पर्वततोलनं पतनभीः स्तम्भं ततः साऽग्रहीत् ॥७१॥

[8]सौमित्रिरात्मीयसहोदरस्य, पपात रामस्य पदोस्तदाशु ।
रामः सकोपं धनुषि स्वकीये, बाणं कृपाणं च करे चकार ॥७२॥

---

१. व. कलिका कोरकः पुमानित्यमरः । २. व. हन्तुं । ३. व. एकत्रीकृत्य । ४. व. कैरवाणां कुमुद्वती, चन्द्रे । ५. व. सा नष्टेन्दुकला कुहूः । ६. व. स्थूणा स्तम्भ इत्यमरः । ७. व. अंकपाली परीरम्भः । ८. व. लक्ष्मणः ।

नखेषु रामस्य स निर्मलेषु, प्रविष्टवक्त्रः क्रमयोः समासीत् ।
रामस्तुतं रावणमेव मत्वा, बाणं कृपाणं च करे चकार ॥७३॥

धृतनवैककलामयमूर्त्तये, शशभृते सखि सूक्ष्मपटाञ्चलः ।
वितरणीय[1] इति प्रियसन्निधौ[2], किमुदिता करमाशु तिरोदधौ[3] ॥७४॥

वल्लभे स रतिसन्निधिमस्या, नव्यमिन्दुमवलोकयतीदम् ।
सख्युवाच [4]नखरक्षितिगुप्त्यै, साऽपि जारनखमाशु जुगोप ॥७५॥

काचित्प्रसन्ना प्रियवल्लभाऽपि, रहोविलोना प्रियवल्लभाऽपि ।
आलिङ्गनप्रह्व[5]-मुदीक्ष्य नाथ, सा संवृताङ्गी किमुवाच मा मा ॥७६॥
नाऽऽलिङ्गनस्यावसरोऽस्ति तस्या, जाताऽधुनैवाऽस्ति रजःस्वला सा ।
इति प्रिया संवृतगात्रवस्त्रा, मा मेत्यमन्दं[6] निजगाद नाथम् ॥७७॥

रुद्धव्योमघनोद्भवावतमसव्याप्तान्तरायां निशि,
त्रस्तारण्यमृगीक्षणा सहचरी धाम्नः स्वभर्तुः स्वयम् ।
यावन्निर्भर[7]-नूपुरारवमसावभ्यर्णमभ्यागता,
तावत्तत्पतिनाऽऽशु मन्दिरमणिर्विध्यापितः[8] किं वद ॥७८॥

अन्याङ्गनासुरतचिह्नविचित्रिताङ्गः,
प्राप्तोऽस्ति केलिशयनं स यदा तदैव ।
कान्तां निजामथ विलोक्य समापतन्तीं,
तद्भीतिभिन्नहृदयो हरति स्म दीपम् ॥७९॥

[8]कुडयेषु [9]कार्त्तस्वरमन्दिराणा-मेणाङ्कमुख्यः प्रतिबिम्बितानाम् ।
वक्त्राण्यपश्यन् वपुषां निजानां, नाङ्गानि नाटयावसरे किमेतत् ॥८०॥
ताः शारदेन्दूपमपाण्डुवक्त्राः, कायेन चामीकरतुल्यभासः ।
तस्मादिमाः काञ्चनभित्तिभागे, वक्त्राण्यपश्यन्न हि शेषमङ्गम् ॥८१॥

---

१. व. दातव्य । २. व. पार्श्वे । ३. व. आच्छादयामास । ४. व. पुर्नभवः करुहो नखोऽस्त्री नखरोऽस्त्रियामित्यमरः । ५. व. उत्कण्ठितं । ६. व. उच्चैः । ७. व. वलिष्ठ । ७. व. अस्तं प्रापितः । ८. अ. भित्ति । ९. अ. स्वर्णमन्दिर ।

काचिन्निशि व्योमगतेव देवी, [1]वातायनस्योपरि संस्थिताऽपि ।
अलक्षताऽलक्षितसौधमुच्चै-रेतत् किमासीद् वद कोविदाशु ॥८२॥
शीतांशुरश्मिप्रकरावमग्ने[2], सा स्फाटिके सौधतले[3] निखिण्णा ।
अलक्षिताधःस्थितसौधमेवं[4], देवीव लोकैर्ददृशेऽम्बरस्था ॥८३॥

कश्चित्करेणु[5]-र्मदसिक्तरेणुः, प्रत्यापतन्तं कृतकोपमाशु ।
आत्मानमेवाऽभिदधाव दूरा-दाचक्ष्व किं कारणमत्र दक्ष ! ॥८४॥
ऊर्मौ महत्यम्बुनिधेरिभेशः, प्रत्यापतन्तं[6] प्रतिबिम्बितं[7] सः ।
आत्मानमेवं[8] प्रविलोक्य कोपा-दन्येभशङ्कोऽभिदधाव दूरात् ॥८५॥

यद्वेश्म वर्षास्वपि वारिदाना-माऽभेदि वार्भिर्न कदापि मध्ये ।
तत् किं विभोः कस्यचिदम्बुयोगं, विनाप्यभूद् वारिमयं निशासु ॥८६॥
[9]शिशिररश्मिकरप्रकरप्लुतं[10], [11]प्रवरचन्द्रमणिस्फुटकुट्टिमम्[12] ।
सदनमम्बु विनाऽपि निशास्वभूत्, सचिवशेखर ! वारिमयं ततः ॥८७॥

वारिकेलिसमये वनिताभि-र्लब्धिमग्निसमिधां हि विनाऽपि ।
अन्वभावि शिशिरं पुनरुष्णं, किं तदेव सलिलं सरसोऽन्तः ॥८८॥
उपरि तरणितापादुष्णमन्तस्तदम्भः,
शिशिरमिति विदान्तचक्रुरुष्णं च शीनम् ।
विषमविशिखतापादुष्णमङ्गेषु लग्नं,
तदितरमिति शीतं [13]वाविदाञ्चक्रुरेताः ॥८९ ।

[14]सुरभिसङ्गसमुद्धतकोकिल - भ्रमरराजिविराजितकाननम् ।[15]
निजगृहं पथिकश्चिरमागतः, कथमुदीक्ष्य तथैव पुनर्ययौ ॥९०॥

---

१. अ.व. गवाक्षस्य । २. व. लग्ने । ३. व. सौधं तु नृपमन्दिरम् । ४. व. अनेन प्रकारेण । ५. अ. हस्ति । ६. अ.व. संमुखमागच्छन्तं । ७. व. प्रतिफलितं । ८. व. प्रतौ 'आत्मानमेव' इति पाठः । ९. व. शीते तुषार शिशिर इति । १०. व. लापिनं । ११. ब. श्रेष्ठ । १२. व. कुट्टिमत्वेस्यवद्धभू । १३. व. विद्ज्ञाने । १४. व. वसन्त इक्षुः सुरभिः पुष्पकालो बलाङ्गकः । १५. वाटिका ।

वसन्तेऽप्यायाते गलदवधिरेष प्रियतमः,
समायातो नेति स्फुटितहृदया सा यदि मृता[1] ।
तदा किं हर्म्येण ध्रुवमथ यदा सा न च मृता,
[2]तदाप्यस्नेहायां [3]कृतमिह गृहेणेति वलितः ॥६१॥

पौरा रदानेव पुरःसराणा[4]-मालोकयामासुरिभेश्वराणाम् ।
नाङ्गानि कस्माद् ददृशुः कदाचित्, किं चात्र चित्रं वद कोविदाशु ॥६२॥
विसृत्वरा[5] राजपथे निशायां, बंहीयसा[6] संतमसेन नागाः ।
लक्षत्वमेतेन गताः [7]सदृक्त्वाद्दन्तास्तु दीप्तिं दधुरुज्ज्वलत्वात् ॥६३॥

जग्धुं समायातमपि स्वधान्यं, न त्रासयामेणगणं बभूवुः ।
केदारगोप्यः कथमेष चापि, नादात् क्षुधार्त्तोऽपि हि शालिसस्यम् ॥६४॥
केदारगोपी कलगानमग्ना, जक्षुः[8] कुरङ्गा न हि शालिसस्यम् ।
ता अप्यतोप्यऽक्षि दिदृक्षयापि, न त्रासयामेणगणं बभूवुः ॥६५॥

कश्चिद्गतः काञ्चनमेव लातुं, कृत्वाऽपि वित्तं निजहस्तमध्ये ।
बध्वा रजःपोट्टलिकां स गेहे, समागतः किं वद चित्रमेतत् ॥६६॥
वित्तं कराद्व्यग्रतयाऽस्य मार्गे, पपात धूलीपिहिते[9] ततः सः ।
तत्रत्यधूलीपटलं प्रमोल्य, तच्छोधनायाशु गृहं निनाय ॥६७॥

तनुसुतनुरिरंसुः[10] कामधामोज्ज्वलश्री-
रुषसि गृहवनान्तर्गन्तुकामाप्यवश्यम् ।
अनुवलति ततः स्म [11]व्यग्रकेशाकुलाक्षी,
स चकितमिति कस्माच्चिन्त्यमेतद् वदाशु ॥६८॥
गृहवनमुपयाति यावदेषा, भ्रमरगणोऽभिमुखं दधाव[12] तस्याः ।
वदनसुरभितानुबद्धलोभः, प्रतिवलति स्म ततो झटित्यमुष्मात्[13] ॥६९॥

---

१. अ. मुई तस सनेही गई रही तउ तुट्टउ नेह । जिणि परि तिणि परि वण गई वरसि सुहावा मेह । २ ब. प्रतौ तथाप्यस्नेहायामिति पाठः । ३. ब. अलं । ४. ब. अग्रे गच्छतां । ५. अ. ब. प्रसरणशीलो । ६. ब. प्रचुरेण । ७. ब. सवर्णत्वात् । ८. ब. भक्षयामासुः । ९. ब. संवृत्तं पिहितं छिन्नं । १०. ब क्रीडितकामाः । ११. ब. व्यस्त इति इति वा । १२. ब. सन्मुखं जगाम । १३. अ. वनात्; ब. अस्मात् ।

[1]दवीयसोप्यागतमात्मकान्तं, संवीक्ष्य काचित् कृतमौनमेव ।
एत्यालयान्तः पुरुहूतपूष-स्वर्गापगाः[2] पूज्य किमर्दति स्म ॥१००॥

इन्द्राद्रवेश्चापि सुरापगाया, अक्ष्णां कराणां च तथा मुखानाम् ।
प्रत्येकमेवेति सहस्रमेषा, यतो ययाचे तदुपास्तिकामा ॥१०१॥

क्रीडाशुकं पञ्जरतः प्रभाते, काचिन्निजे पाणितलेऽभिनीय[3] ।
अध्यापनायोद्यतमानसाऽपि, साऽध्यापयामास कथं न पश्चात् ॥१०२॥

[4]रदा दाडिमीबीजतुल्या मदीयाः, शुकः प्रातरस्ति क्षुधार्त्तः स नूनम् ।
अतश्चञ्चुघात समाशंक्य तन्वी,न तं पाठयामास सा केलिकीरम् । १०३।।

प्रियस्य काचिद् [5]रभसाऽभिसारिणो[6], समेत्य सद्माङ्गणमुज्ज्वलं निशि ।
तमंगुलीयेन[7] निहत्य सत्वरं, विवेश[8] पश्चादिति किं तदिङ्गितम् ॥१०४॥

अनणुमणिनिबद्धं प्राङ्गणं तस्य धाम्नः,
प्रतिफलितघनान्तस्तारतारं समीक्ष्य ।
सलिलमिति विचिन्त्य व्यग्रचित्ता तदन्त-
र्गमनमभिलषन्ती[9] मुद्रया तज्जघान ॥१०५॥

काचित्कान्ता भर्तुरालोक्य वक्त्रं, [10]चञ्चच्चन्द्राखण्डबिम्बानुकारि ।
चिक्षेपाऽक्ष्णोः किं पुनः कज्जलं सा, विद्वन्नेतद्भावमावेदयाशु ॥१०६॥

पत्युः साधरपल्लवे[11] नयनयोरात्मीययोरञ्जनं,
दृष्ट्वा चुम्बनतः समं[12] स्मितमुखी निष्कज्जले लोचने ।
मत्वैवं पुनरेव नेत्रयुगले चिक्षेप सा कज्जलं,
श्रीमन्त्रीश्वर ! कर्मचन्द्र ! शृणुताद् भावार्थमेनं शुभम् ॥१०७॥

---

१. अ. अतिदूरात् । २. अ. ब. इंद्र-सूर्य-गङ्गाः । ३. अ.ब. प्रतौ पाणितले च नीत्वा इति पाठान्तरम् । ४. ब. दन्ताः । ५. ब. वेगेन । ६. अ. कुलटा; ब. स्वैरिणी कुलटा जातिर्या प्रियं साभिसारिका । ७. ब. ऊर्म्मिका त्वंगुलीयकमिति । ८. ब. वेषमकार्षीत् । ९. ब. प्रतौ 'अभिलिखन्ती' इति पाठः । १०. ब. चंचद्देदीप्यमानः । ११. ब. नवे तस्मिन् किसलयं किसलं पल्लवोऽत्र तु । १२. ब. सकलं ।

तद्वस्तुभूयोऽपि निवेदितं मया,
नानीयतेऽद्यापि कथं विभो ! त्वया ।
तत्कि मृगाक्षि ! प्रणिगद्यतां पुनः,
सा किं ततो वंशमधा[1]-दुरोजयोः ॥१०८॥

नितम्बिनीतुम्बकयोरिवोच्चै - र्वक्षोजयोर्मूर्धनि वेणुदानात् ।
निवेदयामाशु बभूव वीणां, पतिं मनोभावविदां वरिष्ठम् ॥१०९॥

[2]प्रसाधिकाङ्कस्थितपादपद्मं, काचिन्निजे सद्मनि सन्निविष्टा ।
अनूर्ध्ववक्त्रापि रसालशीर्षात्, कथं स्वहस्तेन फलं लुलाव ॥११०॥
सौधस्याङ्के यत्र सा सन्निविष्टा, तत्राऽधस्ताद्धस्तसादस्ति चूतः ।
हस्तेनैषाऽनूर्ध्ववक्त्राप्यखेदं, जग्राहैवं तत्फलं तस्य मूर्ध्नः ॥१११॥

काचिन्निरागस्यपि नायके स्वे, कस्मात्प्रकुप्यावनताऽऽननाऽभूत् ।
ततोऽनुतापं महदादधत्या, क्रोडे धृतोऽसावनया तदैव ॥११२॥
दृष्ट्वा स्पष्टं दशनवसने कज्जलं सा स्वभर्तु-
र्मत्वा कान्तं परललनया भुक्तमुक्तं चुकोप ।
पश्चान्नम्रा मणिमयगृहं प्राङ्गणे धौतनेत्रं,
वक्त्रं दृष्ट्वा स्ववगतरहस्यानुतापं चकार ॥११३॥

[3]कर्पूरं कुमुदाकरं कुमुदिनीकान्तं च कुन्दोत्करं[4],
कैलाशं [5]ऋतुभुग्नदीमपि दलत्काशं पयो भः पतिम् ।
डिण्डीरं जलधेश्च मन्त्रिमुकुट ! श्रीकर्मचन्द्रप्रभो !
ह्यन्तर्वाणिगणस्य लोचनपथं गच्छन्ति नैते कथम् ॥११४॥

---

१. व. धारयामास । २. व. मण्डनकर्त्री । ३. व. प्रतौ—कर्पूरं कुमुदाकरः कुमुदिनीकान्तश्च कुन्दोत्करः, कैलाशः ऋतुभुग्नदी प्रविदलत्काशः पयो भः पतिः, डिण्डीरः—इति पाठः । ४. व. पुञ्जोत्करौ संहतिः । ५. व. गंगा ।

त्वत्कीर्तिप्रसरद्युता धवलिते विश्वेऽखिलेऽपि प्रभो,
सावर्ण्यादिह संप्रमग्नवपुषः कर्पूरकुन्दादयः ।
लक्ष्यन्ते कविभिर्न चेति मिलिता दीपेऽन्यदीपप्रभा-
ऽभिन्नत्वेन न लक्ष्यते खलु यथा कोऽन्यो वृथा विस्तरः ॥११५॥

नेदं व्योमसरोवरं सुरपतेर्नैतानि भानि ध्रुवं,
चञ्चत्प्रोज्ज्वलमौक्तिकानि विलसन्नायं विधुर्दृश्यते ।
श्रीमन्त्रीश्वरकर्मचन्द्रसुयशोहंसोऽयमित्युज्ज्वल-
स्तारामौक्तिकमालिकां कवलयन्नवं बुधैर्लक्ष्यते ॥११६॥

इति सुललितभावं शास्त्रमेतत्स्वकण्ठे,
प्रणयति[1] निपुणो यः सन्ततं सत्सभासु ।
अनुभवति स शोभामुल्लसन्तीमनन्तां,
न भवति परभावव्यग्रचेताः कदापि ॥११७॥

श्रीदेवतिलकसूरिर्जयति यशःपूरपूरितदिगन्तः ।
नरनरपतिमुनिमधुकरचुम्बितचरणारविन्दयुगः ॥११८॥

**श्रीनर्मदाचार्यगुरोः प्रसादात्, श्रीपद्मराजस्य पदौ प्रणम्य ।**
**श्रीकर्मचन्द्राह्वययाञ्चयेदं, श्रीहेमरत्नेन कृतं च शास्त्रम् ॥११९॥**

सद्वाक् शुभार्थः सुगुणः सुवृत्तो - ऽलङ्कारकान्तः शुभभावशाली ।
परोपकारप्रवणः स चाऽयं, ग्रन्थश्चिरं जयति सज्जनवज्जगत्याम्[2]।१२०।
मुष्णाति चेतांसि स भूपतीनां, पुष्णाति चातुर्यमपि स्वकीयम् ।
मथ्नाति मानं ननु दुर्जनानां, यः कण्ठपीठस्थमिदं करोति ॥१२१॥

इति श्रीभावप्रदीपाभिधं शास्त्रं समाप्तं । श्रीरस्तु[3] । शुभम्भवतु[4] । श्रीः ।[5]

---

१. ब. निर्माति । २. ब. प्रतौ—'ग्रन्थश्चिरं तिष्ठतु सज्जनोपि' इति पाठः ।
३-४-५. ब. नास्ति ।

विक्रमतो वसुवह्निक्षितिपतिवर्षे (१६३८) तथाऽऽश्विने मासि ।
विजयदशम्यामयमिति[1] विनिर्मितो हेमरत्नेन ॥१॥

[श्रीज्ञानतिलकसूरिर्जयति यशोराशिभासितदिगन्तः ।
नरनरपतिमुनिमुनिवरपूजितपादारविन्दयुगः ॥१॥
तत्पट्टे हेमरत्नाह्वसूरिर्जयतु शास्त्रकृत् ।
विनिर्ध्वंसितपापौघः प्रसन्नाननपङ्कजः ॥२॥][2]

---

१. ब. प्रतौ 'विजयदशम्यामेतद् विनिर्मितं हेमरत्नेन' इति पाठः । २. [ ] कोष्ठकान्तर्गतौ द्वावपि श्लोकौ हेमरत्नस्वलिखितादर्शे अ. संज्ञकपुस्तके न स्तः ।

# पुरातत्त्व संशोधन का पूर्व इतिहास

[आचार्य मुनि जिनविजयजी के एक गुजराती निबन्ध का हिन्दी अनुवाद]

## अनुवादक—श्री गोपालनारायण बहुरा, एम० ए०

[ भारत को पराधीनता के पाश में से मुक्त कराने के लिये महात्मा गांधीजी ने सन् १६२० के अगस्त की पहली तारीख के दिन अंग्रेजों के शासन से राष्ट्र को असहकार करने का आह्वान किया। राष्ट्रभक्ति से प्रेरित होकर गुजरात के हजारों विद्यार्थी सरकारी तंत्र से नियंत्रित स्कूल-कॉलेजों का त्याग कर बाहर निकले। उनकी समुचित शिक्षा-दीक्षा के निमित्त महात्माजी ने सर्वप्रथम अहमदाबाद गुजरात विद्यापीठ नामक राष्ट्रीय विश्व-विद्यालय ( नेशनल युनिवर्सिटी ) की स्थापना की। प्राथमिक शिक्षण से लेकर पारंगत (पोस्ट-ग्रेज्युएट) की कक्षा तक के अध्ययन-अध्यापन की पूर्ण व्यवस्था इस विद्यापीठ द्वारा निर्धारित की गई। साथ ही में भारत की प्राचीन संस्कृति के सर्वांगीण अध्ययन की दृष्टि से, विद्यापीठ के अन्तर्गत **गुजरात पुरातत्त्व मन्दिर** नामक शोध-प्रतिष्ठान की स्थापना की गई जिसके द्वारा राष्ट्र के प्राचीन साहित्य, इतिहास, तत्त्वज्ञान, आचार-विचार और सांस्कृतिक विषयों के अध्ययन-अध्यापन, संशोधन-अन्वेषण एवं संपादन-प्रकाशन का विशिष्ट आयोजन किया गया।

महात्माजी ने विशेष रूप से आमंत्रित करके आचार्य मुनि जिनविजयजी की इस राष्ट्रीय शोध-प्रतिष्ठान (नेशनल रिसर्च इन्स्टीट्यूट) के प्रधान आचार्य पद पर नियुक्ति की। काका कालेलकर, प्रो० रसिकलाल पारीख, रामचन्द्र बलवंत आठवले, रामनारायण वि० पाठक, नरहरि द्वा० परीख आदि जैसे उपलब्ध प्रतिष्ठित विद्वान् इस प्रतिष्ठान के प्रमुख अध्यापक बने। पीछे से, प्रज्ञानमूर्ति पं० सुखलालजी, प्राकृत साहित्यधुरीण पंडित बेचरदास दोसी, विश्वविश्रुत बौद्ध विद्वान् धर्मानन्द कोसंबी, फारसी-अरबी के पारंगत मौलवी अबुफर नदवी जैसे अन्य विद्वान् भी इस प्रतिष्ठान के अध्यापन-संशोधन कार्य में नियुक्त हुए।

उच्चकक्षीय अध्ययनार्थियों के अध्यापन कार्य के उपरान्त पुरातत्त्व-विषयक अन्वेषण, साहित्यसंपादन का विशिष्ट कार्य इस प्रतिष्ठान द्वारा प्रमुख रूप से प्रारम्भ किया गया। **गुजरात पुरातत्त्व ग्रन्थावली** एवं **गुजरात पुरातत्त्व पत्रिका** के रूप में अन्वेषण एवं संपादन-विषयक प्रवृत्तियों का प्रकाशन किया जाने लगा। संस्कृत, प्राकृत, पाली, प्राचीन गुजराती-राजस्थानी आदि भाषाओं में रचित अनेक महत्त्व की रचनाओं को सुसंपादित कर प्रकाशित करने का प्रबन्ध किया गया। इस प्रकार उक्त प्रतिष्ठान की प्रधान प्रवृत्तियों में एक विशिष्ट व्याख्यानमाला की प्रवृत्ति भी स्थिर की गई जिसके अन्तर्गत भिन्न-भिन्न विषयों के प्रौढ़ पंडितों द्वारा पाण्डित्यपूर्ण लिखित व्याख्यान करवाने का उपक्रम किया गया।

इस व्याख्यानमाला का प्रारम्भ मुनि जिनविजयजी के एक व्याख्यान द्वारा हुआ जो आपने गुजरात विद्यापीठ के सम्मिलित विद्यामंडल के सम्मुख, वि० सं० १६७७ की श्रावणी

पूर्णिमा के मांगलिक दिन को दिया था। बाद में यह व्याख्यान, अनान्य विद्वानों के ऐसे ही कई प्रौढ़ व्याख्यानों के साथ आर्यविद्याव्याख्यानमाला नामक ग्रन्थ के रूप में, उक्त प्रतिष्ठान की ओर से प्रकाशित किया गया था।

मुनिजी का यह व्याख्यान बहुत खोज एवं तथ्य पूर्ण बना था इसलिये कई बार, गुजरात विद्यापीठ एवं बम्बई यूनिवर्सिटी के उच्चकक्षीय (एम० ए०) पाठ्यक्रम में संदर्भ-निबन्ध के रूप में स्वीकृत किया गया था। इतना ही नहीं हिन्दी के महारथी परम पण्डित महावीर प्रसाद द्विवेदी ने भी इस व्याख्यान का सार भाग स्वयं हिन्दी में अनूदित कर अपनी पुरातत्त्व प्रसंग नामक निबन्धावली में प्रथम स्थान देकर प्रकाशित किया था।

मुनिजी का यह मूल व्याख्यान गुजराती में है। गुजरात पुरातत्त्व मन्दिर के अनुरूप ही हमारा यह राजस्थान पुरातत्त्वान्वेषण मन्दिर स्थापित हुआ है और इस प्रतिष्ठान की साहित्यसंग्रह एवं साहित्यप्रकाशन विषय की जो महत्त्व की प्रवृत्ति चल रही है उसमें अब प्रस्तुत त्रैमासिक पत्रिका के प्रकाशन की चिरभिलषणीय प्रवृत्ति का भी प्रारम्भ किया जा रहा है। पुरातत्त्व और उसका अन्वेषण क्या वस्तु है, उसका क्या महत्त्व है और उसका प्रारम्भ हमारे देश में कैसे हुआ इस विषय में सर्व सामान्य को तो क्या विशेष पढ़े लिखे लोगों में भी बहुत कम ज्ञान है। इसलिये हम यहां पर श्री मुनिजी के उक्त गुजराती निबन्ध का पूर्ण हिन्दी अनुवाद प्रकट कर रहे हैं। यद्यपि यह निबन्ध कोई ३५-३६ वर्ष पूर्व लिखा गया था, मुनिजी के कथन से ज्ञात हुआ कि इस निबन्ध के विषय में अनेक विद्वानों ने जिज्ञासा की है कि इसको अब विस्तृत रूप में उपस्थित किया जाय तो और भी अधिक उपयुक्त होगा। पर श्री मुनिजी की अवस्था, स्वास्थ्य एवं ऐसे अनेकानेक अन्यान्य संपादन कार्य जो अपूर्ण अवस्था में हैं उन्हें संपन्न करने की अभिलाषा के कारण इस निबन्ध का परिवर्द्धन करने की इनकी इच्छा उत्साहित न हो यह स्वाभाविक ही है। आशा है पुरातत्त्व के अभिलाषियों को हमारा अनुवाद कार्य उपयुक्त प्रतीत होगा। —अनुवादक]

'पुरातत्त्व' यह एक संस्कृत शब्द है। सामान्यतया अंग्रेजी में जिसको 'एण्टीक्विटीज़' (Antiquities) कहते हैं उसी अर्थ में इस शब्द का प्रयोग होता है। पुरातत्त्व अर्थात् पुरातन, जूना, पुराणा और संशोधन अर्थात् शोध-खोज। जूनी-पुरानी वस्तुओं की शोध-खोज करना ही पुरातत्त्व संशोधन कहलाता है। भारत की पुरातन वस्तुओं की शोध-खोज किस प्रकार हुई और किन-किन संस्थाओं तथा किन-किन व्यक्तियों ने इस कार्य में विशेष भाग लिया—इसका कुछ दिग्दर्शन कराना आज के मेरे इस व्याख्यान का मुख्य उद्देश्य है।

मनुष्य एक विशेष बुद्धिशाली प्राणी है। इसलिए प्रत्येक वस्तु को जानना अर्थात् जानने की इच्छा–जिज्ञासा होना उसका मुख्य स्वभाव है। आत्मा के अमरत्व में विश्वास करनेवाले प्रत्येक आस्तिक मनुष्य के मत से प्रत्येक प्राणी में उसके पूर्व-संचित संस्कारों के अनुसार न्यूनाधिक मात्रा में ज्ञान का विकास होता है। मनुष्य प्राणी सब प्राणियों में श्रेष्ठ माना जाता है इसका कारण यह है कि उसमें अन्य जीवजातियों की अपेक्षा ज्ञान का विकास सर्वाधिक मात्रा में होता है। ज्ञान के विकास अथवा प्रसार का मुख्य साधन वाणी अर्थात् भाषा है; और इस वाणी का

व्यक्त स्वरूप सम्पूर्ण रीति से मनुष्य जाति में ही विकसित हुआ है। इसीलिए दूसरे देहधारी जीवात्माओं की अपेक्षा मनुष्यात्मा में ज्ञान का विशेष विकास होना स्वाभाविक है। मनुष्य जाति में भी व्यक्तिगत पूर्वसंचित संस्कारानुसार ज्ञान के विकास में अपरिमित तारतम्य रहता है। संसार में ऐसे भी मनुष्य दृष्टिगोचर होते हैं कि जिनमें ज्ञानशक्ति का लगभग नितान्त अभाव होता है और जो मनुष्यरूप में प्रायः साक्षात् अबुद्ध पशु जैसे होते हैं। इसके विपरीत, ऐसे भी मनुष्य उत्पन्न होते हैं कि जिनमें ज्ञानशक्ति का अपरिमेय रूप से विकास होता है, और वे पूर्ण प्रबुद्ध कहलाते हैं। प्राचीन भारतवासियों में अधिकांश का तो यहां तक पूर्ण विश्वास था कि इस ज्ञानशक्ति का किसी किसी व्यक्ति में सम्पूर्ण विकास होता है अथवा हो सकता है जिससे उसको इस जगत के समस्त पदार्थों का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो सकता है। विश्व की दृश्य अथवा अदृश्य वस्तुओं में से कोई भी वस्तु उसको अज्ञात नहीं होती। ऐसे व्यक्ति को आर्य लोगों ने सर्वज्ञ नाम से कहा है। आर्यों के इस बहुसंख्यक समाज की श्रद्धा के अनुसार ऐसे किसी सर्वज्ञ व्यक्ति का अस्तित्त्व हो सकता है या नहीं, यह एक बड़ा भारी विवादास्पद विषय है जो बहुत प्राचीनकाल से चला आ रहा है और सर्वज्ञ के अस्तित्व-अनस्तित्व पर आज तक असंख्य विद्वानों के अनन्त शङ्का समाधान होते चले आए हैं। परन्तु मेरा कहना तो यह है कि विशुद्ध चक्षुओं से देखा जा सके ऐसे सर्वज्ञ का अस्तित्व प्रमाणित करनेवाला कोई प्रत्यक्ष प्रमाण तो आजतक चिकित्सक संसार में किसीने स्वीकार नहीं किया। अस्तु इस 'सर्वज्ञ' के विषय में कुछ भी हो इतनी बात तो अवश्य है कि किसी किसी मनुष्य में ज्ञानशक्ति का इतनी अधिक मात्रा में विकास अथवा प्रकर्ष होता है कि दूसरों के लिए उसका माप करना अशक्य होता है। शब्दशास्त्र की व्युत्पत्ति के अनुसार ऐसे व्यक्ति को यदि 'सर्वज्ञ' नहीं कह सकते तो भी उसको बहुज्ञ अथवा अनल्पज्ञ तो अवश्य ही कहा जा सकता है। ऐसे एक बहुज्ञ व्यक्ति की ज्ञानशक्ति की तुलना में दूसरे साधारण लाखों अथवा करोड़ों मनुष्यों की एकत्रित ज्ञानशक्ति भी पूरी पड़ सके—ऐसी बात नहीं है।

इतिहास — अतीतकाल से संसार में ऐसे असंख्य अनल्पज्ञ व्यक्ति उत्पन्न होते आए हैं और जगत् को अपनी अगाध ज्ञानशक्तियों की अमूल्य देन सौंपते रहे हैं। फिर भी, इस जगत् के विषय में मनुष्यजाति आजतक भी बहुत थोड़ा ही जान पाई है। यह अभी तक भी वैसा का वैसा अगम्य और अज्ञेय बना हुआ है। जगत् की अन्य वस्तुओं को रहने दीजिए—मनुष्य जाति अपने ही विषय में अबतक कितना जान सकी है? जिस प्रकार मानवसंस्कृति के प्रथम निदर्शक और संसार में साहित्य के आदिम ग्रन्थ ऋग्वेद में ऋषियों ने मनुष्य जाति के इतिहास को लक्ष्य करके पूछा है कि—

को ददर्श प्रथमं जायमानम्?

'सब से प्रथम उत्पन्न होने वाले को किसने देखा है?' उसी प्रकार आज बीसवीं शताब्दी के तत्त्वज्ञानी भी ऐसे ही प्रश्न पूछ रहे हैं। जगत के प्रादुर्भाव के

विषय में जिस प्रकार सतयुगीन नासदीय सूक्त का रचयिता महर्षि जानने की इच्छा करता था कि—

को अद्धा वेद क इह प्रवोचत्

कुत आ जाताः कुत इयं विसृष्टिः।

'इस जगत् का पसारा कहां से आया है—और कहां से निकला है, यह कोई जानता है? अथवा कोई बतलाता है?' उसी प्रकार आज इस कलियुग के तत्त्व-जिज्ञासु भी ऐसे ही प्रश्नों के उत्तर जानने के लिए तड़प रहे हैं। ऐसा यह जगत्-तत्त्व अतिगूढ़ और अगम्य है। गुजराती भक्त कवि अखा के शब्दों में सचमुच यह एक अँधेरा कुआ है जिसका भेद आज तक कोई पा नहीं सका है। फिर भी, मानवी जिज्ञासा और ज्ञानशक्ति ने इस 'अन्धकूप' की ग्रन्थि को सुलझाने के लिए भगीरथ-प्रयत्न किया है। इस कुए के गहरे पानी पर छाई हुई घनी नीली शैवाल को जहां तहां से हटाकर इसके जलकणों का आस्वाद करने के लिए बड़ी बड़ी आपत्तियां उठाई हैं। गूढ़तर और गूढ़तम ज्ञात होने वाले इस जगत् के कुछ रूपों को मनुष्य ने पहचाना है।

सृष्टि के स्वाभाविक नियमानुसार वर्षा ऋतु में आकाश पर उमड़ते-घुमड़ते हुए बादलों, उनके गर्जन तथा बिजली की चमक व कड़कड़ाहट को देखकर जिस प्रकार हमारे वेदकालीन पूर्वज महाभयभीत हो जाते थे और प्रकृति के इस महान् उपयोगी कार्य को बड़ी भारी आपत्ति समझते थे उस प्रकार आज हम नहीं मानते; अपनी ही असावधानी के कारण प्रज्वलित हुई अग्नि में भस्म होती हुई अपनी पर्णकुटी को देखकर इस दृश्य को अपने पर कुपित हुए किसी देव अथवा राक्षस का अग्निरूप में आगमन मानते हुए दूर खड़े होकर जिस प्रकार हमारे पूर्वज प्रार्थना करने लगते थे वैसा हम नहीं करते। वायु के वेग से उड़ी हुई झोंपड़ी अथवा घास के ढेर को देखकर किसी अदृश्य चोर के भय से आक्रांत हमारे पुरखा जिस तरह उस चोर को दण्ड देने के लिए इंद्र की स्तुति करने लगते थे वैसा भी हम आज नहीं करते हैं। हमारे पूर्वजों में और हममें इस फेरफार ( अन्तर ) का कारण क्या है? वेदकालीन आर्यों के बाद उनकी सन्तति द्वारा की गई प्रकृति के गूढ़ तत्त्वों की शोध खोज ही इसका कारण है। विश्व के रहस्य को समझने के लिए जैसे जैसे ही उत्तरकालीन मनुष्य विशेष बुद्धिपूर्वक विचार करते गए वैसे वैसे ही सृष्टि के ये साधारण नियम उनकी समझ में आते गये। उन्हीं लोगों ने मेघ के स्वरूप को जाना, अग्नि के स्वभाव को समझा और वायु की प्रकृति को पहचाना और फिर इनसे निर्भय एवं निश्चिन्त होने के उपायों की योजना की। इससे भी आगे बढ़कर आधुनिक युग के मनुष्य प्राणियों ने प्रकृति की इन स्वच्छन्द शक्तियों के आन्तरिक मर्म को समझा, उनको वश में किया और उनसे कैसे कैसे काम लेने लगे हैं यह हम लोग प्रत्यक्ष देख रहे हैं और अनुभव कर रहे हैं।

मनुष्य अपने इन्द्रियबल से केवल अपने संसर्ग में आनेवाले समसामयिक और अनुभवगम्य विषयों का ही ज्ञान प्राप्त कर सकता है। संसर्गातीत एवं अनुभवा-

तीत विषयों का ज्ञान मनुष्य को उसकी इन्द्रियों द्वारा प्राप्त नहीं हो सकता। फिर भी, हम जितने विश्वास के साथ आज के विषयों की चर्चा किया करते हैं उतने ही विश्वास के साथ हजारों लाखों वर्ष पूर्व की बातों की भी चर्चा करते हैं। शिवाजी, प्रताप, अकबर अथवा अशोक को हमारे युग के किसी मनुष्य ने प्रत्यक्ष नहीं देखा है; फिर भी हम इनके अस्तित्व के विषय में उतने ही विश्वस्त हैं जितने अपने में। जिस प्रकार आज हम अपने बीच में विचरते हुए किसी महात्मा के आदर्श में पूर्ण श्रद्धा रखते हैं उसी प्रकार आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व उत्पन्न होने वाले तीर्थंकर अथवा बुद्ध के आदर्शों में भी उतनी ही श्रद्धा रखते हैं। जिस प्रकार भगवद्गीता के रहस्यकार लोकमान्य तिलक की प्रथम श्राद्ध तिथि हमने गए दिन मनाई थी उसी प्रकार आज से पांच हजार वर्ष पूर्व जन्म लेने वाले और भगवद्गीता के मूल उपदेष्टा भगवान् श्री कृष्ण की पुण्य जन्मतिथि आने पर भी हम उत्सव मनाते हैं। इन अनुभवातीत और समयातीत विषयों का ज्ञान कराने वाला कौन है? कौन से साधनों द्वारा हमने इन भूतकाल की बातों को जान लिया है? कहने की आवश्यकता नहीं है कि हमको इन बातों का ज्ञान करानेवाला इतिहासशास्त्र है! ऐतिहासिक साहित्य द्वारा ही हम भूतकाल की बातों को जान सकते हैं। इतिहास जितना ही यथार्थ और विस्तृत होगा उतना ही हमारा भूतकालीन ज्ञान भी यथार्थ और विस्तृत होगा, यह स्वतः सिद्ध है। यह हमारा दुर्भाग्य है कि हमारे पूर्वजों द्वारा रचित हमारे देश का यथार्थ और विस्तृत इतिहास उपलब्ध नहीं है। जगत् की अन्य प्राचीन प्रजाओं को उनके देश में जितना प्राचीन और विस्तृत इतिहास मिल सका है उतना हमारे इस विश्ववृद्ध आर्यावर्त का इतिहास प्राप्त नहीं हो सका है। प्राचीन और विस्तृत इतिहास तो दूर रहा, हम लोगों में तो हम से तीन पीढ़ी पूर्व का इतिहास ही दुर्लभ्य है। वर्तमान् शताब्दी से पहले की शताब्दी का ही पूर्ण वृत्तान्त हम नहीं जानते। और तो क्या, जिन राष्ट्रीय शकाब्द और संवत् का प्रयोग हमारे पूर्वज अनेकों शताब्दियों से करते आए हैं और जिन पर हमारी सम्पूर्ण मध्यकालीन काल-गणना अवलम्बित है, उनके प्रवर्तक कौन थे यह भी आज तक अज्ञात एवं अनिश्चित है। ऐसी स्थिति में पुरातत्त्व-संशोधन ही हमारे इतिहासनिर्माण का मुख्य स्तम्भ है। हमारा इतिहास जूनी पुरानी वस्तुओं की शोधखोज के परिणाम के आधार पर रचा गया है और रचा जायगा। यों तो संसार के किसी भी प्राचीन प्रदेश की पुरातन परिस्थितियों को जानने के लिए, जब इतिहास रूपी दूरदर्शक यन्त्र उनके दर्शन में सफल नहीं होता है तो, वहां की जूनी पुरानी वस्तुएं ही आधारभूत होती हैं; परन्तु भारतवर्ष में तो हमारे जन्मदिवस से लेकर ठेठ युग के आरम्भ तक की परिस्थितियों को जानने के लिए जूनी पुरानी वस्तुओं पर अवलम्बित रहना पड़ता है। कारण कि शास्त्रीय पद्धति से जिसको हम इतिहास कहते हैं वैसा तो कोई छोटा मोटा भी इतिहास भारतवासियों ने लिखा नहीं, अथवा वह कहीं उपलब्ध नहीं होता। इतिहास-निर्माण में काम आने वाली जूनी पुरानी वस्तुओं में प्राचीन ग्रन्थ, शिलालेख, ताम्र-पत्र, सिक्के तथा धातुपात्र, मन्दिर, मस्जिदें, जलाशय, कीर्तिस्तम्भ, तथा अन्य इमारतें

व खण्डहर आदि गिने जाते हैं। हमारे पूर्वजों ने इतिहास के स्वतन्त्र ग्रन्थों का तो निर्माण नहीं किया परन्तु इतिहास के साधन तो बहुत से निर्मित किए हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है। परन्तु, हम तो इतना भी नहीं जानते, न जानने की आवश्यकता ही समझते कि इन साधनों की किस प्रकार छानबीन करके इतिहास का निर्माण करें। यह पाठ हमको पाश्चात्यों ने सिखाया है। पाठ ही सिखाया हो—इतना ही नहीं, वरन् अनेक प्रकार के कष्टों को झेल कर और परिश्रम करके उन्होंने हमारे लिए इतिहास के अनेक अध्याय भी तैयार किए हैं। यह आनुषङ्गिक बात कहकर अब मैं अपने व्याख्यान के मुख्य प्रतिपाद्य विषय पर आता हूँ।

प्रारम्भ में कहा जा चुका है कि मनुष्य विशिष्ट बुद्धिशाली ज्ञानवान् प्राणी है इसलिए उसमें प्रत्येक वस्तु को विशेष रूप से जानने की जिज्ञासा का रहना स्वाभाविक ही है। इनमें से जो मनुष्य अन्य साधारण मनुष्यों की अपेक्षा अधिक ज्ञानवान् होते हैं उनमें यह जिज्ञासा अधिक उत्कट मात्रा में होती है। ऐसे मनुष्यों का जब कभी नवीन समागम किसी अपरिचित प्रदेश अथवा मानव-समाज से होता है तो उनमें वहां के धर्म, समाज, इतिहास आदि के विषय में जानने की तीव्र इच्छा उत्पन्न होती है। इसी ज्ञानपिपासा से प्रेरित होकर वे मनुष्य उन बातों की शोधखोज में पड़ते हैं। वे उस अपरिचित प्रदेश की भाषा सीखते हैं, उसके ज्ञान भण्डार को खोजने का प्रयत्न करते हैं और फिर उनके द्वारा प्राप्त ज्ञान का अपने देशबन्धुओं को लाभ प्राप्त कराने के लिए उस ज्ञान भण्डार को अपनी भाषा में अवतरित करने का उपक्रम करते हैं। भारतवर्ष में पैसा कमाकर पेट पूजा के निमित्त आए हुए अंग्रेज इसी प्रकार हमारे देश की शोधखोज करने में प्रवृत्त हुए।

ईसवीय सन् १७५७ में ईस्ट इन्डिया कम्पनी ने प्लासी की प्रसिद्ध लड़ाई के बाद, धीरे धीरे बङ्गाल पर अधिकार प्राप्त करना आरम्भ कर दिया था। १७६५ ई० में अंग्रेजों ने बङ्गाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी हस्तगत करली; १७७२ ई० में बङ्गाल के नवाब से बहुत से अधिकार प्राप्त कर लिए और फिर तुरन्त ही १७७४ ई० में नवाब को सम्पूर्णतः पदच्युत करके अपना गवर्नरजनरल नियुक्त कर दिया। अंग्रेजों के लिए अब यह स्वाभाविक ही था कि वे इस देश के धर्म, समाज आदि का ज्ञान प्राप्त करें। जिस देश के साथ व्यापार करके उन्होंने करोड़ों ही नहीं अरबों रुपए कमाए, और हजारों ही नहीं लाखों वर्गमील भूमि पर अधिकार प्राप्त किया उसी देश की अमूल्य ज्ञानसम्पत्ति प्राप्त करने के प्रशस्त लोभ ने भी कितने ही विद्वान् अंग्रेजों को घेर लिया। कम्पनी की ओर से जो विद्याप्रेमी अंग्रेज भारत का शासनकार्य चलाने के लिए नियुक्त किए जाते थे प्रायः वे ही इस कार्य में अग्रसर बनते थे। बाद में तो फ्रांस और जर्मनी के विद्वानों ने भी भारतीय पुरातत्त्व में बहुत से महत्त्वपूर्ण कार्य किए और भारतीय साहित्य की बड़ी बड़ी सेवाएं की परन्तु इस कार्य में पहल करने का श्रेय तो अंग्रेजों को ही है। सबसे पहले सर विलि-यमजेम्स ने इस मङ्गलमय कार्य का आरम्भ किया था। आर्य साहित्य के संशोधन

कार्य के साथ सर जेम्स का नाम सदैव जुड़ा रहेगा। सर जेम्स को भारतीय लोग म्लेच्छ मानते थे इसलिए संस्कृत भाषा सीखने में उनको बहुत सी अड़चनें आईं। ब्राह्मणों की कट्टरता के कारण उनको अपना संस्कृत अध्ययन चालू रखने में जो-जो कठिनाईयां झेलनी पड़ीं उनका मनोरञ्जक वर्णन उन्होंने अपने जीवन-वृत्तान्त में लिखा है। अन्त में, वे इन कठिनाइयों को पार कर गए और अपेक्षित संस्कृत ज्ञान प्राप्त करके उन्होंने तुरन्त ही शाकुन्तल और मनुस्मृति का अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित किया। इस अनुवाद को देखकर यूरोपीय विद्वानों में भारतीय सभ्यता का ज्ञान प्राप्त करने की उत्कट जिज्ञासा उत्पन्न हुई। जो प्रजा ऐसे उत्कृष्ट साहित्य का निर्माण कर सकती है उसका अतीतकाल कितना भव्य रहा होगा, यह जानने की आकांक्षा उनमें जाग उठी। सन् १७७४ के जनवरी मास की पन्द्रहवीं तारीख को तत्कालीन गवर्नर-जनरल वॉरन हेस्टिङ्ग्ज़ की सहायता से एशिया खण्ड (महाद्वीप) के इतिहास, साहित्य, स्थापत्य, धर्म, समाज, विज्ञान आदि विशिष्ट विषयों की शोध-खोज करने के लिए सर विलियम जेम्स ने एशियाटिक सोसाइटी नामक संस्था की शुभ स्थापना की। इस संस्था के साथ ही भारत के इतिहास के अन्वेषण का अमर आरम्भ हुआ, यह हमको उपकृत होते हुए स्पष्टतया स्वीकार करना चाहिए। इससे पहले हमारा इतिहास-विषयक ज्ञान कितना अल्प और सामान्य था, यह एक भोजप्रबन्ध जैसे लोकप्रिय निबन्ध को पढ़ने से ही ज्ञात हो जाता है। इस प्रबन्ध में भोज से अनेक शताब्दियों पूर्व भिन्न भिन्न समयों में होनेवाले, कालिदास, बाण, माघ आदि कवियों का भोज के दरबारी कवियों की रीति से वर्णन करते हुए उन्हें एक ही साथ ला बैठाया गया है। सिन्धुराज वाक्पतिराज की मृत्यु के पश्चात् राज्य का स्वामी बना था; इसके बदले इस प्रबन्धकार ने वाक्पतिराज को सिन्धुराज की गद्दी पर बैठाकर पिता को पुत्र बना डाला है। जब भोज जैसे प्रसिद्ध राजा के इतिहास लेखक को ही उसके वंश एवं समय के विषय में ऐसी अज्ञानता थी तो फिर सर्वसाधारण की वेजानकारी के लिए तो कहा ही क्या जा सकता है? अशोक जैसे प्रतापी सम्राट की तो लोगों को सामान्य कल्पना भी नहीं थी। यद्यपि हिन्दुस्तान की इतिहास सम्बन्धी बहुत सी पुस्तकें व अन्य साधन मुसलमानों के समय में नष्ट हो गए थे परन्तु फिर भी बौद्धकालीन अनेक स्तूप, स्तम्भ, मन्दिर, गुफाएं, जलाशय आदि स्थान, धातु और पाषाण निर्मित देवी देवताओं की मूर्तियां और दरवाजों, शिलाओं व ताम्रपत्रों इत्यादि पर उत्कीर्ण असंख्य लेख तो जो इतिहास के सच्चे और मुख्य साधन समझे जाते हैं, अभी तक भी बहुत बड़ी संख्या में विद्यमान थे। इन्हीं के आधार पर यदि इतिहास के तथ्य खोज कर निकालने के प्रयत्न किए जाते तो आज की तरह उसी समय हमारे इतिहास के बहुत से अध्यायों की रचना हो गई होती; परन्तु, इस ओर किसी की दृष्टि ही नहीं गई और फिर बाद में तो देश में ज्यों ज्यों अज्ञानता और अराजकता फैलती गई त्यों त्यों ही लोग प्राचीन लिपि एवं तत्सम्बन्धी स्मृतियों को भूलते गए और इस प्रकार पर्याप्त साधनों के होते हुए भी उनका कोई सम्यक् उपयोग नहीं हो पाया।

सन् १३५६ ई० में दिल्ली का सुल्तान फीरोजशाह तुगलक टोबरा और मेरठ से अशोक के लेखों वाले दो बड़े स्तम्भों को बड़े उत्साह और परिश्रम के साथ दिल्ली लाया था ( जिनमें से एक फीरोजशाह के कटरे में और दूसरा 'कुश्क शिकार' के पास खड़े किए गए हैं )। इन स्तम्भों पर खुदे हुए लेखों में क्या लिखा है यह जानने के लिए उस बादशाह ने बहुत परिश्रम किया और बहुत से पण्डितों को बुलवा कर उनको पढ़वाने का प्रयत्न किया परन्तु उनमें से कोई भी उन लेखों को पढ़ने में सफल नहीं हुआ। इससे अन्त में बादशाह को बहुत निराशा हुई। अकबर बादशाह को भी इन लेखों का मर्म जानने की प्रबल जिज्ञासा थी परन्तु कोई मनुष्य उसको पूर्ण न कर सका। प्राचीन लिपियों की पहचान को भूल जाने के कारण, जब कभी कोई पुराना लेख अथवा ताम्रपत्र मिलता तो, लोग उसके विषय में विविध प्रकार की कल्पनाएं करते। कोई उनको सिद्धिदायक यन्त्र बतलाता, कोई देवताओं का लिखा हुआ मन्त्र मानता तो कोई उन्हें पृथ्वी में गड़े हुए धन का बीजक समझता। ऐसी अज्ञानता के कारण लोग इन शिलालेखों और ताम्रपत्रों आदि का कोई मूल्य ही नहीं जानते थे। टूटे-फूटे जीर्ण मन्दिरों आदि के शिलालेखों को तोड़ फोड़ कर साधारण पत्थर के टुकड़ों की तरह उपयोग किया जाता था; कोई उनको सीढ़ियों में चुनवा लेता था तो कोई उन्हें भांग घोटने व चटनी बांटने के काम में लेता था। अनेक प्राचीन ताम्रपत्र साधारण तांबे के भाव कसेरों को बेच दिए जाते थे और वे उन्हें गला जला कर नए वर्त्तन तैयार करा लेते थे। लोगों की नासमझी अभी भी चालू है। मैंने अपने भ्रमण के समय कितने ही शिलालेखों की ऐसी ही दुर्दशा देखी है। कितने ही जैन मन्दिरों के शिलालेखों पर से चिपकाया हुआ चूना मैंने अपने हाथों से उखाड़ा है। चार वर्ष पहले की बात है, खम्भात के पास किसी गांव का रहनेवाला एक ब्राह्मण तीन चार ताम्रपत्र लेकर मेरे पास आया। उसकी जमीन के बारे में सरकार में कोई केस चल रहा था इसलिए घर में पड़े हुए ताम्रपत्रों में उस जमीन के सम्बन्ध में कुछ लिखा होगा यह समझकर उन्हें मेरे पास पढ़वाने को लाया था। उनमें से एक पत्र के बीचों बीच दो इन्च व्यास वाला एक गोल टुकड़ा कटा हुआ था जिससे उस लेख का बहुतसा महत्त्वपूर्ण भाग जाता रहा था। इस सम्बन्ध में पूछने पर उसने मुझे बताया कि कुछ महिनों पहले एक लोटे का पैंदा बनवाने के लिए वह टुकड़ा काट लिया गया था। ऐसी अनेक घटनाएं आज भी देखने में आती हैं। ऐसी ही दुर्दशा हमारे प्राचीन ग्रन्थों की हुई है। कितने ही युगों से बिना सार-सम्हाल के कोटड़ियों में पड़े हुए हजारों हस्तलेखों को चूहों ने उदरसात् कर लिया है तो कितने ही ग्रन्थ छप्परों में से पड़ते हुए पानी के कारण गलकर मिट्टी में मिल गए हैं। अनेक गुरुओं के अयोग्य चेलों के हाथों भी हमारे साहित्य की कम दुर्दशा नहीं हुई है। एक उदाहरण देता हूँ। इन्दौर में गोरजी नामक एक विद्वान् था। उसने शिष्य बनाने के लिए दो लड़कों को पालापोसा था। इस गोरजी की मृत्यु के पश्चात् वे छोकरे उसके विशाल पुस्तक-भण्डार में से नित्य हजार दो हजार पत्र ले जाकर हलवाई को दे आते और उनके बदले में पाव आधसेर गरमागरम जलेबी का नाश्ता कर आते और

मजे उड़ाते। जब मुझे इस बात की खबर हुई तो उस हलवाई के पास जाकर बहुत से पत्रे तलाश किए, जिनमें पांचसौ वर्ष पुराने लिखे हुए दो-तीन जैनसूत्र तो मुझे अखण्ड रूप में मिल गए। पाटण के जैन-भण्डारों में सिद्धराज कुमारपाल और उनसे भी पहले के लिखे हुए ताड़पत्रीय ग्रन्थों को तम्बाकू के पत्ते की तरह चूर्ण हुई अवस्था में मैंने अपनी इन चर्मचक्षुओं से देखा है। इस प्रकार हम ही लोगों ने अपनी अज्ञानता के कारण हमारे इतिहास के बहुत से साधनों को भ्रष्ट कर डाला है। इतना ही नहीं पारस्परिक मतान्धता और साम्प्रदायिक असहिष्णुता के विकार के वश होकर भी हमने अपने साहित्य को कई तरह से खंडित और दूषित किया है। शैवों ने वैष्णवों के साहित्य का निकन्दन किया है, वैष्णवों ने जैनों के स्थापत्य को दूषित किया है, दिगम्बरों ने श्वेताम्बरों के लेखों को खंडित किया है तथा 'लोंको'[१] ने 'तपाओं' की नोंध को बिगाड़ डाला है। इस प्रकार एक दूसरे ने एक दूसरे को बहुत नष्ट किया है। शोध-खोज के वृत्तान्तों में ऐसे अनेक उदाहरण देखने में आते हैं। अन्त में, मुसलमान भाइयों ने हिन्दुओं के स्वर्गीय भवनों को तोड़ फोड़कर मैदान कर दिया है और उनके पवित्र धामों के लेखों को जमींदोज़ कर दिया है। ऐसी संकटापन्न परम्पराओं में भी जो बच रहे उनको सुरक्षित रखने के लिए, जो अर्द्धमृत अवस्था में थे, उनसे कुछ जान लेने के लिए और विस्मृति और अज्ञानता की सतह के नीचे सजड दबे हुए भारत के अतीत काल का उन्हीं के द्वारा उद्धार करने के लिए उपरिवर्णित एशियाटिक सोसाइटी की स्थापना हुई थी। इस सोसाइटी की स्थापना के दिन से ही हिन्दुस्तान के ऐतिहासिक अज्ञानान्धकार का धीरे-धीरे लोप होने लगा। इस संस्था के उद्देश्य की पूर्ति के निमित्त अनेक अंग्रेज विभिन्न विषयों का अध्ययन करने लगे और उन पर लेख लिखने लगे। इन लेखों को प्रकट करने के लिए 'एशियाटिक रिसर्चेज' नामक ग्रन्थमाला प्रकाशित की गई। सन् १७८८ ई० में इस माला का प्रथम भाग प्रकाश में आया। सन् १७९७ ई० तक इसके पांच भाग प्रकाशित हुए। सन् १७९८ ई० में इसका एक नवीन संस्करण चोरी से इङ्गलैण्ड में छपाया गया। उससे इन भागों की इतनी मांग बढ़ी कि ५-६ वर्षों में ही उनकी दो-दो आवृत्तियां प्रकाशित हो गईं और एम. ए. लॅब्रॉम नामक एक फ्रॅञ्च विद्वान ने 'रिसर्चेज एशियाटिक्स' नाम से उनका फ्रॅञ्च अनुवाद भी प्रकट कर दिया। सोसाइटी की इस ग्रन्थमाला में दूसरे विद्वानों के साथ साथ सर विलियम जेम्स् ने हिन्दुस्तान के इतिहास सम्बन्धी अनेक उपयोगी लेख लिखे हैं। सबसे पहले उन्हीं ने अपने लेख में यह बात प्रकट की थी कि मेगस्थनीज द्वारा उल्लिखित सांड्रोकोटस् और चंद्रगुप्त मौर्य ये दोनों एक ही व्यक्ति थे, पाटलीपुत्र का ही अपभ्रष्ट रूप पालीबोथा है और उसी का आधुनिक नाम पटना है। कारण कि, पटना के पास में बहने वाला सोननद हिरण्यबाहु कहलाता है और मेगस्थनीज का 'एरोनोबाओं ही हिरण्यबाहु का अपभ्रष्ट रूप है। इस प्रकार चन्द्रगुप्त मौर्य का समय सबसे पहले जेम्स् साहब ही ने निश्चित किया था।

---

१. लोंका और तपा जैन श्वेताम्बर सम्प्रदाय के अवान्तर गच्छ हैं।

सब से पहले संस्कृत भाषा सीखने वाले अंग्रेज का नाम चार्ल्स विल्किन्स् था। उसीने सर्व प्रथम देव नागरी और बङ्गाली टाइप बनाए थे। बदाल के पास वाला लेख सब से प्रथम इसीने खोद कर निकाला था। इसके अतिरिक्त, एशियाटिक रिसर्चेज के प्रथम भागों में दूसरे कितने ही ताम्र पत्रों और शिलालखों पर इनकी टिप्पणियाँ प्रकाशित हुई थीं। भगवद् गीता का भी सर्व प्रथम अंग्रेजी अनुवाद इसी अंग्रेज ने किया था।

सन् १७६४ ई० में सर जेम्स की मृत्यु हुई। उनके पश्चात् हैनरी कोलब्रुक की उनके स्थान पर नियुक्ति हुई। कोलब्रुक अनेक विषयों में प्रवीण थे। उन्होंने संस्कृत साहित्य का खूब परिशीलन किया था। मृत्यु के समय सर जेम्स सुप्रसिद्ध पण्डित जगन्नाथ द्वारा सम्पादित "हिन्दू और मुसलमान कायदों का सार" नामक संस्कृत ग्रन्थ का अनुवाद कर रहे थे। इस अधूरे अनुवाद को पूर्ण करने का कार्य कोलब्रुक साहब को सौंपा गया। उन्होंने कितने ही पण्डितों की सहायता से सन् १७६७ ई० में यह कार्य पूरा किया। इसके पश्चात् उन्होंने 'हिन्दुओं के धार्मिक रीति रिवाज', 'भारतीय माप का परिमाण,' 'भारयीय वर्णव्यवस्था की उत्पत्ति', 'भारतवासियों की जातियाँ' आदि विषयों पर गम्भीर निबन्ध लिखे। तदनन्तर, १८०१ ई० में "संस्कृत और प्राकृत भाषा", "संस्कृत और प्राकृत छन्द: शास्त्र" आदि लेख लिखे। फिर उसी वर्ष में दिल्ली के लोहस्तम्भ पर उत्कीर्ण विशालदेव की संस्कृत प्रशस्ति का भाषान्तर भी इसी अंग्रेज विद्वान् ने प्रकाशित किया। सन् १८०७ ई० में वे एशियाटिक सोसाइटी के सभापति बने और उसी वर्ष उन्होंने हिन्दू ज्योतिष अर्थात् खगोल विद्या पर एक ग्रंथ लिखा तथा जैनधर्म पर एक विस्तृत निबन्ध प्रकट किया। कोलब्रुक ने वेद, साङ्ख्य, मीमांसा, न्याय, वैशेषिक, वेदान्त, बौद्ध आदि भारतीय विशिष्ट दर्शनों पर तो बड़े बड़े निबन्ध लिखे ही थे, साथ ही, कृषि, वाणिज्य, समाज-व्यवस्था, साधारण साहित्य, कानून, धर्म, गणित, ज्योतिष, व्याकरण आदि अनेक विषयों पर भी खूब विस्तृत निबन्ध लिखे थे। उनके ये लेख, निबन्ध, प्रबन्धादि आज भी उसी सम्मान के साथ पढ़े जाते हैं। वेबर, बूहलर और मैक्समूलर आदि विद्वानों द्वारा निश्चित किए हुए कितने ही सिद्धान्त भ्रमपूर्ण सिद्ध हो गए हैं परन्तु कोलब्रुक द्वारा प्रकट किए हुए विचार बहुत ही कम गलत पाए गए हैं। यह एक सौभाग्य ही की बात थी कि आरम्भ ही में हमारे साहित्य को एक ऐसा उपासक मिल गया जिसने हमारे तत्त्वज्ञान और प्राचीन साहित्य को निष्पक्षपात पूर्वक मूलस्वरूप में यूरोप निवासियों के सम्मुख उपस्थित किया और जिसने संसार का ध्यान हमारी प्राचीन संस्कृति की ओर सहानुभूति पूर्वक आकर्षित किया। यदि उन्होंने ऐसा अपूर्व परिश्रम न किया होता तो आज यूरोप में संस्कृत का इतना प्रचार न हो पाता। कोलब्रुक जब भारत छोड़कर इङ्गलैण्ड गए तो वहाँ भी उन्होंने रॉयल एशियाटिक सोसाइटी की स्थापना की, अनेक विद्वानों को संस्कृत का अध्ययन करने के लिए उत्साहित किया और आँखों से अन्धे होते हुए भी अन्य अनेक उपायों द्वारा संस्कृत साहित्य की सतत सेवा करते रहे।

जहाँ एक ओर कोलब्रुक साहब संस्कृत साहित्य के अध्ययन में मग्न हो रहे थे वहाँ दूसरी ओर कितने ही उनके जाति बन्धु हिन्दुस्तान के भिन्न-भिन्न प्रान्तों के

पुरातत्त्व की गवेषणा में व्यस्त थे। सन् १८०० ई० में मार्क्विस् वेल्जली साहब ने मैसूर प्रान्त के कृषि आदि विभागों की तपास करने के लिये डॉक्टर बुकनन की नियुक्ति की। उन्होंने अपने कृषि विषयक कार्य के साथ साथ उस प्रान्त की जूनी-पुरानी वस्तुओं का भी बहुत सा ज्ञान प्राप्त कर लिया। उनके कार्य से सन्तुष्ट होकर कम्पनी ने १८०७ ई० में उनको बङ्गाल प्रान्त में एक विशिष्ट पद पर नियुक्त किया। सात वर्षों तक उन्होंने बिहार, शाहाबाद, भागलपुर, गोरखपुर, दिनाजपुर, पुरनिया, रङ्गपुर, और आसाम में काम किया। यद्यपि उनको प्राचीन स्थानों आदि की शोध-खोज का कार्य नहीं सौंपा गया था फिर भी उन्होंने इतिहास और पुरातत्त्व की खूब गवेषणा की। उनकी इस गवेषणा से बहुत लाभ हुआ। अनेक ऐतिहासिक विषयों की जानकारी प्राप्त हुई। पूर्वीय भारत की प्राचीन वस्तुओं की शोध–खोज सर्व प्रथम इन्हींने की थी।

पश्चिम भारत की प्रसिद्ध केनेरी (कनाड़ी) गुफाओं का वर्णन सबसे पहले साल्ट साहब ने और हाथी गुफाओं का वर्णन रस्किन साहब ने लिखा। ये दोनों बॉम्बे ट्रांजेक्शन नामक पुस्तक के पहले भाग में प्रकाशित हुए। इसी पुस्तक के तीसरे भाग में साइकस साहब ने बीजापुर ( दक्षिण ) का वर्णन लोगों के सामने रक्खा।

अन्त में, डेनिअल साहब ने दक्षिण हिन्दुस्तान का हाल मालूम करना आरम्भ किया। उन्हीं दिनों कर्नल मैकेञ्जी ने भी दक्षिण में पुरातत्त्व-विद्या का अभ्यास शुरू किया। वे सर्वे विभाग में नौकर थे। उन्होंने अनेक प्राचीन ग्रन्थों और शिलालेखों का संग्रह किया था। वे केवल संग्रहकर्त्ता ही थे, उन ग्रन्थों और लेखों को पढ़ नहीं सकते थे परन्तु उनके बाद वाले शोधकों ने इस संग्रह से बहुत लाभ उठाया। दक्षिण के कितने ही लेखों का भाषान्तर डॉ मिले ने किया था। इसी प्रकार राजपूताना और मध्यभारत के अधिकांश भागों का ज्ञान कर्नल टॉड ने प्राप्त किया और इन प्रदेशों की बहुत सी जूनी-पुरानी वस्तुओं की शोध-खोज उन्होंने की।

इस प्रकार विभिन्न विद्वानों द्वारा भारत के भिन्न–भिन्न प्रान्तों विषयक ज्ञान प्राप्त हुआ और बहुत सी वस्तुएं जानकारी में आईं, परन्तु प्राचीन लिपियों का स्पष्ट ज्ञान अभी तक नहीं हो पाया था अतः भारत के प्राचीन ऐतिहासिक ज्ञान पर अभी भी अन्धकार का आवरण ज्यों का त्यों पड़ा हुआ था। बहुत से विद्वानों ने अनेक पुरातन सिक्कों और शिलालेखों का संग्रह तो अवश्य कर लिया था परन्तु प्राचीन लिपि-ज्ञान के अभाव में वे उस समय तक उसका कोई उपयोग न कर सके थे।

भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास के प्रथम अध्याय का वास्तविक रूप में आरम्भ १८३७ ई० में होता है। इस वर्ष में एक नवीन नक्षत्र का उदय हुआ जिससे भारतीय पुरातत्त्व विद्या पर पड़ा हुआ पर्दा दूर हुआ। एशियाटिक सोसाइटी की स्थापना के दिन से १८३४ ई० तक पुरातत्त्व सम्बन्धी वास्तविक काम बहुत थोड़ा हो पाया था, उस समय तक केवल कुछ प्राचीन ग्रन्थों का अनुवाद ही होता रहा था। भारतीय इतिहास के एक मात्र सच्चे साधन रूप शिलालेखों सम्बन्धी कार्य तो उस समय तक

नहीं के बराबर ही हुआ था। इसका कारण यह था कि प्राचीन लिपि का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त होना अभी बाकी था।

ऊपर बतलाया जा चुका है कि संस्कृत भाषा सीखने वाला पहला अंग्रेज चार्ल्स विल्किन्स् था और सबसे पहले शिलालेख की ओर ध्यान देने वाला भी वही था। उसी ने १७८५ ई० में दीनाजपुर जिले में बदाल नामक स्थान के पास प्राप्त होनेवाले स्तंभ पर उत्कीर्ण लेख को पढ़ा था। यह लेख बङ्गाल के राजा नारायणलाल के समय में लिखा गया था। उसी वर्ष में, राधाकांत शर्मा नामक एक भारतीय पण्डित ने टोमरा वाले दिल्ली के अशोक स्तम्भ पर खुदे हुए अजमेर के चौहान राजा अनलदेव के पुत्र वीसलदेव के तीन लेखों को पढ़ा। इनमें से एक लेख की मिति 'संवत् १२२० वैशाख सुदी ५' है। इन लेखों की लिपि बहुत पुरानी न होने के कारण सरलता से पढ़ी जा सकी थी। परन्तु उसी वर्ष जे-एच-हेरिंग्टन ने बुद्धगया के पास वाली नागार्जुनी और बराबर गुफाओं में से मौखरी वंश के राजा अनन्त वर्मा के तीन लेख निकलवाए जो उपरिवर्णित लेखों की अपेक्षा बहुत प्राचीन थे। इनकी लिपि बहुत अंशों में गुप्तकालीन लिपि से मिलती हुई होने के कारण उनका पढ़ा जाना अति कठिन था। परन्तु, चार्ल्स विल्किन्स् ने चार वर्ष तक कठिन परिश्रम करके उन तीनों लेखों को पढ़ लिया और साथ ही उसने गुप्त लिपि की लगभग आधी वर्णमाला का भी ज्ञान प्राप्त कर लिया।

गुप्तलिपि क्या है, इसका थोड़ा सा परिचय यहाँ करा देता हूँ। आजकल जिस लिपि को हम देवनागरी (अथवा बालबोध) लिपि कहते हैं उसका साधारणतया तीन अवस्थाओं में से प्रसार हुआ है। वर्तमान काल में प्रचलित आकृति से पहले की आकृति कुटिल लिपि के नाम से कही जाती थी। इस आकृति का समय साधारणतया ईस्वीय सन् की छटी शताब्दी से १० वीं शताब्दी तक माना जाता है। इससे पूर्व की आकृति गुप्त लिपि के नाम से कही जाती है। सामान्यतः इसका समय गुप्तवंश का राजत्वकाल गिना जाता है। इससे भी पहले की आकृति वाली लिपि ब्राह्मीलिपि कहलाती है। अशोक के लेख इसी लिपि में लिखे गए हैं। इसका समय ईसा पूर्व ५०० से ३५० ई० तक माना जाता है।

सन् १८१८ ई० से १८२३ ई० तक कर्नल जेम्स टॉड ने राजपूताना के इतिहास की शोध-खोज करते हुए राजपूताना और काठियावाड़ में बहुत से प्राचीन लेखों का पता लगाया। इनमें से सातवीं शताब्दी से पन्द्रहवीं शताब्दी तक के अनेक लेखों को तो उक्त कर्नल साहब के गुरु यति ज्ञानचन्द्र ने पढ़ा था। इन लेखों का सारांश अथवा अनुवाद टॉड साहब ने अपने "राजस्थान" नामक प्रसिद्ध इतिहास में दिया है।

सन् १८२८ ई० में बी. जी. बेबिङ्गटन ने मामल्लपुर के कितने ही संस्कृत और तामिल लेखों को पढ़कर उनकी वर्णमाला तैयार की। इसी प्रकार वाल्टर इलियट ने प्राचीन कनाड़ी अक्षरों का ज्ञान प्राप्त करके उसकी विस्तृत वर्णमाला प्रकाशित की।

ईस्वीय सन् १८३४ में केपटेन ट्रॉयर ने प्रयाग के अशोक स्तम्भ पर उत्कीर्ण गुप्तवंशी राजा समुद्रगुप्त के लेख का बहुतसा अंश पढ़ा और फिर उसी वर्ष में डॉ० मिले ने उस सम्पूर्ण लेख को पढ़कर १८३७ ई० में भिटारी के स्तम्भवाला स्कन्दगुप्त का लेख भी पढ़ लिया।

१८५३ ई० में डब्ल्यू. एम. वॉथ ने वलभी के कितने ही दानपत्रों को पढ़ा।

१८३७-३८ ई० में जेम्स प्रिंसेप ने दिल्ली, कमाऊँ और ऐरण के स्तम्भों एवं अमरावती के स्तूपों तथा गिरनार के दरवाजों पर खुदे हुए गुप्तलिपि के बहुत से लेखों को पढ़ा।

सांची स्तूप के चन्द्रगुप्त वाले जिस महत्त्वपूर्ण लेख के सम्बन्ध में प्रिंसेप ने १८३४ ई० में लिखा था कि 'पुरातत्त्व के अभ्यासियों को अभी तक भी इस बात का पता नहीं चला है कि सांची के शिलालेखों में क्या लिखा है।' उस विशिष्ट लेख को यथार्थ अनुवाद सहित १८३७ ई० में करने में वही प्रिंसेप साहब सम्पूर्णतः सफल हुए।

इस प्रकार केप्टन ट्रायर, डॉ० मिले और जेम्स प्रिंसेप के सतत परिश्रम से चार्ल्स विल्किन्स् द्वारा तैयार की हुई गुप्तलिपि की अपूर्ण वर्णमाला पूरी हो गई और गुप्तवंशी राजाओं के समय तक के शिलालेखों, ताम्रपत्रों तथा सिक्कों आदि को पढ़ने में पूरी पूरी सफलता और सरलता प्राप्त हो गई।

अब, बहुत सी लिपियों की आदि जननी ब्राह्मी लिपि की बारी आई। गुप्त-लिपि से भी अधिक प्राचीन होने के कारण इस लिपि को एकदम समझ लेना कठिन था। इस लिपि के दर्शन तो शोधकर्त्ताओं को १७९५ ई० में ही हो गए थे। उसी वर्ष सर चार्ल्स् मैलेट ने इलोरा की गुफाओं के कितने ब्राह्मी लेखों की नकलें सर विलियम जेम्स के पास भेजीं। उन्होंने इन नकलों को मेजर विल्फोर्ड के पास, जो उस समय काशी में थे, इसलिए भेजीं कि वे इनको अपनी तरफ से किसी पण्डित द्वारा पढ़वावें। पहले तो उनको पढ़नेवाला कोई पण्डित मिला नहीं, परन्तु फिर एक चालाक ब्राह्मण ने कितनी ही प्राचीन लिपियों की एक कृत्रिम पुस्तक बेचारे जिज्ञासु मेजर साहब को दिखलाई और उन्हीं के आधार पर उन लेखों को गलत-सलत पढ़कर खूब दक्षिणा प्राप्त की। विल्फोर्ड साहब ने उस ब्राह्मण द्वारा कल्पित रीति से पढ़े हुए उन लेखों पर पूर्ण विश्वास किया और उसके समझाने के अनुसार ही उनका अंग्रेजी भाषान्तर करके सर जेम्स के पास भेज दिया। इस सम्बन्ध में मेजर विल्फोर्ड ने सर जेम्स को जो पत्र भेजा उसमें बहुत उत्साहपूर्वक लिखा है कि "इस पत्र के साथ कुछ लेखों की नकलें उनके सारांश सहित भेज रहा हूँ। पहले तो मैंने इन लेखों के पढ़े जाने की आशा बिलकुल ही छोड़ दी थी, क्योंकि हिन्दुस्तान के इस भाग में (बनारस की तरफ) पुराने लेख नहीं मिलते हैं, इसलिए उनके पढ़ने की कला में बुद्धि का प्रयोग करने अथवा उनकी शोध-खोज करने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। यह सब कुछ होते हुए भी और मेरे बहुत से प्रयत्न निष्फल चले जाने पर भी अन्त में सौभाग्य से मुझे एक वृद्ध गुरु मिल गया जिसने इन लेखों को पढ़ने

की कुञ्जी बताई और प्राचीनकाल में भारत के विभिन्न भागों में जो लिपियां प्रचलित थीं उनके विषय में एक संस्कृत पुस्तक मेरे पास लाया। निस्सन्देह, यह एक सौभाग्य सूचक शोध हुई है जो हमारे लिए भविष्य में बहुत उपयोगी सिद्ध होगी।" मेजर विल्फोर्ड की इस 'शोध' के विषय में बहुत वर्षों तक किसी को कोई सन्देह नहीं हुआ क्योंकि सन् १८२० ई० में खण्डगिरि के -द्वार पर इसी लिपि में लिखे हुए लेख के सम्बन्ध में मि० स्टर्लिङ्ग ने लिखा है कि, "मेजर विल्फोर्ड ने प्राचीन लेखों को पढ़ने की कुञ्जी एक विद्वान् ब्राह्मण से प्राप्त की और उनकी विद्वत्ता एवं बुद्धि से इलोरा व शाल्सेट के इसी लिपी में लिखे हुए लेखों के कुछ भाग पढ़े गए। इसके पश्चात् दिल्ली तथा अन्य स्थानों के ऐसे ही लेखों को पढ़ने में उस कुञ्जी का कोई उपयोग नहीं हुआ, यह शोचनीय है।"

सन् १८३३ ई० में मि० प्रिन्सेप ने सही कुञ्जी निकाली। इससे लगभग एक वर्ष पूर्व उन्होंने भी मेजर विल्फोर्ड की कुञ्जी का उपयोग न करने की बाबत दुःख प्रकट किया। एक शोधकर्त्ता जिज्ञासु विद्वान् को ऐसी बात पर दुःख होना स्वाभाविक भी है। परन्तु, उस विद्वान् ब्राह्मण की बताई हुई कुञ्जी का अधिक उपयोग नहीं हुआ, इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है, क्योंकि जिस प्रकार शोध-खोज के दूसरे कामों में मेजर विल्फोर्ड की श्रद्धा का श्राद्ध करनेवाले चालाक ब्राह्मण के धोखे में वे आगए इसी प्रकार इस विषय में भी वही बात हुई। कुछ भी हुआ हो यह तो निश्चित है कि मेजर विल्फोर्ड के नाम से कहलाने वाली सम्पूर्ण खोज भ्रमपूर्ण थी। क्योंकि उनका पढ़ा हुआ लेख-पाठ कल्पित था और तदनुसार उसका अनुवाद भी वैसा ही निर्मूल था—युधिष्ठिर और पाण्डवों के वनवास एवं निर्जन जङ्गलों में परिभ्रमण की गाथाओं को लेकर ऐसा गड़बड़-घोटाला किया गया है कि कुछ समझ में नहीं आता। उस धूर्त ब्राह्मण के बताए हुए ऊटपटाँग अर्थ का अनुसन्धान करने के लिए विल्फोर्ड ने ऐसी कल्पना करली थी कि पाण्डव अपने वनवास-काल में किसी भी मनुष्य के संसर्ग में न आने के लिए वचनबद्ध थे। इसलिए विदुर, व्यास आदि उनके स्नेही सम्बन्धियों ने उनको सावधान करने की सूचना देते रहने के लिए ऐसी योजना की थी कि वे जङ्गलों में, पत्थरों और शिलाओं (चट्टानों) पर थोड़े-थोड़े और साधारणतया समझ में न आने योग्य वाक्य पहले ही से निश्चित की हुई लिपि में सङ्केत रूप से लिख लिख कर अपना उद्देश्य पूरा करते रहते थे। अंग्रेज लोग अपने को बहुत बुद्धिमान मानते हैं और हंसते-हंसते दुनियां के दूसरे लोगों को ठगने की कला उनको याद है परन्तु वे भी एक बार तो भारतवर्ष की स्वर्गपुरी मानी जाने वाली काशी के 'वृद्ध गुरु' के जाल में फँस ही गए, अस्तु।

एशियाटिक सोसाइटी के पास दिल्ली और इलाहाबाद के स्तम्भों तथा खण्ड-गिरि के दरवाजों पर के लेखों की नकलें एकत्रित थीं परन्तु, विल्फोर्ड साहब की 'शोध' निष्फल चली जाने के कारण कितने ही वर्षों तक उनके पढ़ने का कोई प्रयत्न नहीं हुआ। इन लेखों के मर्म को जानने की उत्कट जिज्ञासा को लिए हुए मिस्टर जेम्स प्रिंसेप

ने १८३४-३५ ई० में इलाहाबाद, रधिया और मथिआ के स्तम्भों पर उत्कीर्ण लेखों की छापें मँगवाई और उनको दिल्ली के लेख के साथ रख कर यह जानने का प्रयत्न किया कि उनमें कोई शब्द एक सरीखा है या नहीं। इस प्रकार उन चारों लेखों को पास-पास रखने से उनको तुरंत ज्ञान हो गया कि ये चारों लेख एक ही प्रकार के हैं। इससे प्रिंसेप का उत्साह बढ़ा और उनकी जिज्ञासा पूर्ण होने की आशा बँध गई। इसके पश्चात उन्होंने इलाहाबाद स्तम्भ के लेख के भिन्न-भिन्न आकृतिवाले अक्षरों को अलग-अलग छाँट लिया। इससे उनको यह बात मालूम हो गई कि गुप्त लिपि के अक्षरों की भाँति इसमें भी कितने ही अक्षरों के साथ स्वरों की मात्राओं के भिन्न भिन्न पाँच चिन्ह लगे हुए हैं। इसके बाद उन्होंने पाँचों चिन्हों को एकत्रित करके प्रकट किए। इससे कितने ही विद्वानों का इन अक्षरों के यूनानी अक्षर होने सम्बन्धी भ्रम दूर हो गया।

अशोक के लेखों की लिपि को देखकर साधारणतया अंग्रेजी अथवा ग्रीक लिपि की भ्रान्ति उत्पन्न हो जाती है। टॉम कोरिएट नामक यात्री ने अशोक के दिल्ली वाले स्तम्भ-लेख को देखकर एल-व्हीटर को एक पत्र में लिखा था कि "मैं इस देश के दिल्ली नामक नगर में आया हूँ कि जहाँ पहले अलेक्ज़ेंडर ने हिन्दुस्तान के पोरस नामक राजा को हराया था और अपनी विजय की स्मृति में एक विशाल स्तम्भ खड़ा किया था जो आज भी यहाँ पर मौजूद है।" पादरी एडवर्ड टेरी ने लिखा है कि "टॉम कोरिएट ने मुझे कहा था कि उसने दिल्ली में ग्रीक लेखवाला एक स्तम्भ देखा था जो अलेक्जेण्डर महान् की स्मृति में वहाँ पर खड़ा किया गया था।" इस प्रकार दूसरे भी कितने ही लेखकों ने इस लेख को ग्रीक लेख ही माना था।

उपर्युक्त प्रकार से स्वर-चिन्हों को पहचान लेने के बाद मि० जेम्स् प्रिंसेप ने अक्षरों के पहचानने का उद्योग आरम्भ किया। उन्होंने पहले प्रत्येक अक्षर को गुप्त लिपि के अक्षरों के साथ मिलाने और मिलते हुए अक्षरों को वर्णमाला में शामिल करने का क्रम अपनाया। इस रीति से बहुत से अक्षर उनकी जानकारी में आ गए।

पादरी जेम्स् स्टीवेन्सन् ने भी प्रिंसेप साहब की तरह इसी शोधन में अनुरक्त होकर 'क' 'ज' 'थ' 'प' और 'व' अक्षरों को पहचाना और इन्ही अक्षरों की सहायता से पूरे लेखों को पढ़कर उनका अनुवाद करनेका मनोरथ किया परन्तु, कुछ तो अक्षरों की पहचान में भूल होने के कारण, कुछ वर्णमाला की अपूर्णता के कारण और कुछ इन लेखों की भाषा को संस्कृत समझ लेने के कारण यह उद्योग पूरा-पूरा सफल नहीं हुआ। फिर भी, प्रिंसेप को इससे कोई निराशा नहीं हुई। सन् १८३५ ई० में प्रसिद्ध पुरातत्त्वज्ञ प्रो० लॅस्सन ने एक ऑस्ट्रिअन ग्रीक सिक्के पर इन्हीं अक्षरों में लिखा हुआ अॅगॅथॉकिलस का नाम पढ़ा। परन्तु १८३७ ई० के आरम्भ में मि० प्रिंसेप ने अपनी अलौकिक स्फुरणा द्वारा एक छोटा सा 'दान' शब्द शोध निकाला जिससे इस विषय की बहुत सी ग्रन्थियाँ एक दम सुलझ गई। इसका विवरण इस प्रकार है। ई० स० १८३७ में प्रिंसेप ने साँची स्तूप आदि पर खुदे हुए कितने ही छोटे छोटे लेखों की छापों को एकत्रित करके देखा तो बहुत से लेखों के अन्त में दो अक्षर एक ही सरीखे जान पड़े और उनके पहले 'स' अक्षर दिखाई पड़ा जिसको प्राकृत भाषा की छठी

विभक्ति का प्रत्यय (संस्कृत 'स्य' के बदले) मान कर यह अनुमान किया कि भिन्न-भिन्न लेख भिन्न-भिन्न व्यक्तियों द्वारा किए हुए दानों के सूचक जान पड़ते हैं। फिर उन एक सरिखे दीखने वाले और पहचान में न आने वाले दो अक्षरों में से पहले के साथ 'ा' आ की मात्रा और दूसरे के साथ "ं" अनुस्वार चिन्ह लगा हुआ होने से उन्होंने निश्चय किया कि यह शब्द 'दानं' होना चाहिए। इस अनुमान के अनुसार 'द' और 'न' की पहचान होने से आधी वर्णमाला पूरी हो गई और उसके आधार पर दिल्ली, इलाहाबाद, साँची, मेथिया, रधिया, गिरनार, धौरमी आदि स्थानों से प्राप्त अशोक के विशिष्ट लेख सरलतापूर्वक पढ़ लिए गए। इससे यह भी निश्चित हो गया कि इन लेखों की भाषा, जैसा कि अब तक बहुत से लोग मान रहे थे, संस्कृत नहीं है वरन् तत्तत्स्थानों में प्रचलित देश भाषा थी (जो साधारणतया उस समय प्राकृत नाम से विख्यात थी)।

इस प्रकार ब्राह्मी लिपि का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त हुआ और उसके योग से भारत के प्राचीन से प्राचीनतम लेखों को पढ़ने में पूरी सफलता मिली।

अब, उतनी ही पुरानी दूसरी लिपि की शोध का विवरण दिया जाता है। इस लिपि का ज्ञान भी प्रायः उसी समय में प्राप्त हुआ था। इसका नाम खरोष्ठी लिपि है। खरोष्ठी लिपि आर्य लिपि नहीं है अर्थात् अनार्य लिपि है इसको सेमेटिक लिपि के कुटुम्ब की अरमेइक् लिपि से निकली हुई मानी जाती है। इस लिपि को लिखने की पद्धति फारसी लिपि के समान है अर्थात् यह दायें हाथ से बायीं ओर लिखी जाती है। यह लिपि ईसा से पूर्व तीसरी अथवा चौथी शताब्दी में केवल पञ्जाब के कुछ भागों में ही प्रचलित थी। शाहाबाजगढ़ी और मन्सोरा के दरवाजों पर अशोक के लेख इसी लिपि में उत्कीर्ण हुए हैं। इसके अतिरिक्त शक, क्षत्रप, पार्थिअन् और कुशावंशी राजाओं के समय के कितने बौद्ध लेखों तथा बाक्ट्रिअन, ग्रीक, शक, क्षत्रप आदि राजवंशों के कितने ही सिक्कों में यही लिपि उत्कीर्ण हुई मिलती है। इसलिये भारतीय पुरातत्त्वज्ञों को इस लिपि के ज्ञान की विशेष आवश्यकता थी।

कर्नल जेम्स् टॉड ने बाक्ट्रिअन्, ग्रीक, शक, पार्थिअन् और कुशानवंशी राजाओं के सिक्कों का एक बड़ा संग्रह किया था। इन सिक्कों पर एक ओर ग्रीक और दूसरी ओर खरोष्ठी अक्षर लिखे हुए थे। सन् १८३० ई० में जनरल वेंटुरॉ ने मानिकिआल स्तूप को खुदवाया तो उसमें से खरोष्ठी लिपि के कितने ही सिक्के और दो लेख प्राप्त हुए। इसके अतिरिक्त अलेक्जेन्डर, बर्न्स् आदि प्राचीन शोधकों ने भी ऐसे अनेक सिक्के इकट्ठे किए थे जिनमें एक ओर के ग्रीक अक्षर तो पढ़े जा सकते थे परन्तु दूसरी ओर के खरोष्ठी अक्षरों के पढ़े जाने का कोई साधन नहीं था। इन अक्षरों के विषय में भिन्न-भिन्न कल्पनाएं होने लगीं। सन् १८२४ ई० में कर्नल टॉड ने कडूफिसेस् के सिक्के पर खुदे इन अक्षरों को 'ससेनिअन्' अक्षर बतलाया। १८३३ ई० में अॅपोलोडोटस् के सिक्के पर इन्हीं अक्षरों को प्रिंसेपने "पहलवी" अक्षर माने। इसी प्रकार एक दूसरे सिक्के की इसी लिपि तथा मानिकिआॅल के लेख की लिपि को उन्होंने ब्राह्मी लिपि मान लिया और इसकी आकृति कुछ टेढ़ी

होने के कारण अनुमान लगाया कि जिस प्रकार छपी हुई और वही में लिखी हुई गुजराती लिपि में अन्तर है उसी प्रकार अशोक के दिल्ली आदि के स्तम्भों वाली और इस लिपि में अन्तर है। परन्तु, बाद में स्वयं प्रिंसेप ही इस अनुमान को अनुचित मानने लगे। सन् १८३४ ई० में केप्टन कोर्ट को एक स्तूप में से इसी लिपि का एक लेख मिला जिसको देखकर प्रिंसेप ने फिर इन अक्षरों के विषय में 'पहलवी' होने की कल्पना की। परन्तु उसी वर्ष में मिस्टर मेसन नामक शोधकर्ता विद्वान ने अनेक ऐसे सिक्के प्राप्त किए जिन पर खरोष्ठी और ग्रीक दोनों लिपियों में राजाओं के नाम अङ्कित थे। मेसन साहब ने ही सबसे पहले मिनेंड्रो, आपोलडोटो, अरमाइओ, वासिलिओ और सोटरो आदि नामों को पढ़ा था, परन्तु, यह उनकी कल्पना मात्र थी। उन्होंने इन नामों को प्रिंसेप साहब के पास भेजे। इस कल्पना को सत्य का रूप देने का यश प्रिंसेप के ही भाग्य में लिखा था। उन्होंने मेसन साहब के संकेतों के अनुसार सिक्कों को बाँचना आरम्भ किया तो उनमें से बारह राजाओं और सात पदवियों के नाम पढ़ निकाले।

इस प्रकार खरोष्ठी लिपि के बहुत से अक्षरों का बोध हुआ और साथ ही यह भी ज्ञात हुआ कि यह लिपि दाहिनी ओर से बाँई ओर पढ़ी जाती है। इससे यह भी निश्चय हुआ कि यह लिपि सेमेटिक वर्ग की है, परन्तु इसके साथ ही इसकी भाषा को, जो वास्तव में ब्राह्मी लेखों की भाषा के समान प्राकृत है, पहलवी मान लेने की भूल हुई। इस प्रकार ग्रीक लेखों की सहायता से खरोष्ठी लिपि के बहुत से अक्षरों की तो जानकारी हुई परन्तु भाषा के विषय में भ्रान्ति होने के कारण पहलवी के नियमों को ध्यान में रखकर पढ़ने से अक्षरों को पहचानने में अशुद्धता आने लगी जिससे थोड़े समय तक इस कार्य में अड़चन पड़ती रही। परन्तु १८३८ ई० में दो बाक्ट्रिअन् ग्रीक सिक्कों पर पालि लेखों को देख कर दूसरे सिक्कों की भाषा भी यही होगी यह मानते हुए उसी के नियमानुसार उन लेखों को पढ़ने से प्रिंसेप का काम आगे चला और उन्होंने एक साथ १७ अक्षरों को खोज निकाला। प्रिंसेप की तरह मिस्टर नॉरिस ने भी इस विषय में कितना ही काम किया और इस लिपि के ७ नए अक्षरों की शोध की। बाकी के थोड़े से अक्षरों को जनरल कनिङ्घम ने पहचान लिया और इस प्रकार खरोष्ठी की सम्पूर्ण वर्णमाला तैयार हो गई।

यह भारतवर्ष की पुरानी से पुरानी लिपियों के ज्ञान प्राप्त करने का संक्षिप्त इतिहास है। उपर्युक्त वर्णन से विदित होगा कि लिपिविषयक शोध में मिस्टर प्रिंसेप ने बहुत काम किया है। एशिआटिक सोसाइटी की ओर से प्रकाशित "सैन्टीनरी रिव्यू" नामक पुस्तक में "एन्श्यण्ट् इण्डिअन ॲलफाबेट" शीर्षक लेख के आरम्भ में इस विषय पर डॉ० हॉर्नली लिखते हैं कि —

"सोसाइटी का प्राचीन शिलालेखों को पढ़ने और उनका भाषान्तर करने का अत्युपयोगी कार्य १८३४ ई० से १८३९ ई० तक चला। इस कार्य के साथ सोसाइटी के तत्कालीन सेक्रेटरी, मि० प्रिंसेप का नाम, सदा के लिए संलग्न रहेगा; क्योंकि भारत विषयक प्राचीन लेखनकला, भाषा और इतिहास सम्बन्धी हमारे अर्वाचीन

ज्ञान की आधारभूत इतनी बड़ी शोध-खोज इसी एक व्यक्ति के पुरुषार्थ से इतने थोड़े समय में हो सकी।"

प्रिंसेप के बाद लगभग तीस वर्ष तक पुरातत्त्व-संशोधन का सूत्र जेम्स फर्ग्युसन्, मॉर्खम किट्टो, एडवर्ड टॉमस, अलेक्जेण्डर कनिङ्हम, वाल्टर इलियट, मेडोज टेलर, स्टीवेन्सन्, डॉ० भाउ दाजी आदि के हाथों में रहा। इनमें से पहले चार विद्वानों ने उत्तर हिन्दुस्थान में, इलियट साहब ने दक्षिण भारत में और पिछले तीन विद्वानों ने पश्चिमी भारत में काम किया। फर्ग्युसन साहब ने पुरातन वास्तु विद्या (Architecture) का ज्ञान प्राप्त करने में बड़ा परिश्रम किया और उन्होंने इस विषय पर अनेक ग्रन्थ लिखे। इस विषय का उनका अभ्यास इतना बढ़ा-चढ़ा था कि किसी भी इमारत को केवल देखकर वे सहज ही में उसका सम्वत् निश्चित कर देते थे। मेजर किट्टो बहुत विद्वान् तो नहीं थे परन्तु उनकी शोधक बुद्धि बहुत तीक्ष्ण थी। जहां अन्य अनेक विद्वानों को कुछ ज्ञात न पड़ता था वहां वे अपनी गिद्ध जैसी पैनी दृष्टि से कितनी ही बातें खोज निकालते थे। चित्रकला में वे बहुत निपुण थे। कितने ही स्थानों के चित्र उन्होंने अपने हाथ से बनाए थे और प्रकाशित किए थे। उनकी शिल्पकला विषयक इस गम्भीर कुशलता को देखकर सरकार ने उनको बनारस के संस्कृत कॉलेज का भवन बनवाने का काम सौंपा। इस कार्य में उन्होंने बहुत परिश्रम किया जिससे उनका स्वास्थ्य गिर गया और अन्त में इङ्गलैण्ड आकर वे स्वर्गस्थ हुए। टॉमस साहब ने अपना विशेष ध्यान सिक्कों और शिलालेखों पर दिया। उन्होंने अत्यन्त परिश्रम करके ई० स० पूर्व २४६ से १५५४ ई० तक लगभग १८०० वर्षों के प्राचीन इतिहास की शोध की। जनरल कनिङ्हम ने प्रिंसेप का अवशिष्ट कार्य हाथ में लिया। उन्होंने ब्राह्मी तथा खरोष्ठी लिपियों का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया। इलियट साहब ने कर्नल मेकेञ्जी के संग्रह का संशोधन और संवर्द्धन किया। दक्षिण के चालुक्य वंश का विस्तृत ज्ञान सर्व प्रथम उन्होंने लोगों के सामने प्रस्तुत किया। टेलर साहब ने भारत की मूर्ति-निर्माण-विद्या का अध्ययन किया और स्टीवेन्सन् ने सिक्कों की शोधखोज की। पुरातत्त्व-संशोधन के कार्य में प्रवीणता प्राप्त करने वाले प्रथम भारतीय विद्वान् डॉक्टर भाउ दाजी थे। उन्होंने अनेक शिलालेखों को पढ़ा और भारत के प्राचीन इतिहास के ज्ञान में खूब वृद्धि की। इस विषय में दूसरे नामाङ्कित भारतीय विद्वान् काठियावाड़ निवासी पण्डित भगवानलाल इन्द्रजी का नाम उल्लेखनीय है जिन्होंने पश्चिम भारत के इतिहास में अमूल्य वृद्धि की है। उन्होंने अनेक शिलालेखों और ताम्रपत्रों को पढ़ा है परन्तु उनके कार्य का सच्चा स्मारक तो उनके द्वारा उड़ीसा के खण्डगिरि-उदयगिरि वाली हाथी गुफा में सम्राट खारवेल के लेखों का शुद्धरूप से पढ़ा जाना ही है। बङ्गाल के विद्वान् डॉ० राजेन्द्रलाल मित्र का नाम भी इस विषय में विशेष रूप से उल्लेख करने योग्य है। उन्होंने नेपाल के साहित्य का विशिष्ट ज्ञान प्राप्त किया है।

अब तक इतना कार्य विद्वानों ने अपनी ही ओर से शोध-खोज करके किया था, सरकार की ओर से इस विषय में कोई विशेष प्रबन्ध नहीं हुआ था। परन्तु

यह कार्य इतना बड़ा महाभारत है कि सरकार की सहायता के बिना इसका पूरा होना अशक्य है। सन् १८४४ ई० में लन्दन की रॉयल एशियाटिक सोसायटी ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी से प्रार्थना की कि सरकार को इस कार्य में सहायता करनी चाहिए। अतः सन् १८४७ ई० में लॉर्ड हार्डिञ्ज के प्रस्ताव पर बोर्ड आफ डायरेक्टर्स ने इस कार्य के लिए खर्चा देने की स्वीकृति दे दी; परन्तु १८५० ई० तक इसका कोई वास्तविक परिणाम नहीं निकला। सन् १८५१ ई० में संयुक्त प्रान्त के चीफ एञ्जीनियर कर्नल कनिङ्घम ने एक योजना तैयार करके सरकार के पास भेजी और यह भी सूचना दी कि यदि गवर्नमेंट इस कार्य की ओर ध्यान नहीं देगी तो जर्मन और फ्रेञ्च लोग इस कार्य को हथिया लेंगे और इससे अंग्रेजों के यश की हानि होगी। कर्नल कनिङ्घम की इस सूचना के अनुसार गवर्नर जनरल की सिफारिश से १८५२ ई० में ऑर्कियॉलॉजिकल सर्वे नामक विभाग स्थापित किया गया और कर्नल कनिङ्घम ही इस विभाग का नियमन करने के लिए, २५० रु० मासिक अतिरिक्त वेतन पर, डाइरेक्टर नियुक्त हुए। यह एक अस्थायी योजना थी। सरकार की यह धारणा थी कि बड़े-बड़े और महत्त्वपूर्ण स्थानों का यथातथ्य वर्णन, तत्सम्बन्धी इतिहास एवं किम्वदन्तियों आदि का संग्रह किया जावे। नौ वर्षों तक सरकार की यही नीति चालू रही और तदनुसार कनिङ्घम साहब ने भी अपनी नौ रिपोर्टें प्रकशित कीं।

सन् १८७१ ई० से सरकार की इस धारणा में कुछ फेरफार हुआ। कनिङ्घम की रिपोर्टों से सरकार को यह लगा कि सम्पूर्ण हिन्दुस्तान महत्त्वपूर्ण स्थानों से भरा पड़ा है और उनकी विशेषरूप से शोध-खोज होने की आवश्यकता है। अतः समस्त भारत की शोध-खोज करने के लिए कनिङ्घम साहब को डायरेक्टर जनरल बना कर उनकी सहायता करने के लिए अन्य विद्वानों को नियुक्त किया गया। परन्तु १८७४ ई० तक कनिङ्घम साहब उत्तरी हिन्दुस्तान में ही काम करते रहे इसलिए उसी वर्ष दक्षिणी भाग की गवेषणा करने के लिए डॉक्टर बर्जेस की नियुक्ति की गई।

इस विभाग का कार्य केवल प्राचीन स्थानों की शोध करने का था और उनके संरक्षण का कार्य प्रान्तीय सरकारों के आधीन था, परन्तु इन सरकारों द्वारा इस ओर पूरा ध्यान न देने के कारण उचित संरक्षण के अभाव में कितने ही प्राचीन स्थान नष्ट होने लग गए थे। इस दुर्दशा को देख कर लॉर्ड लिटन ने १८७८ ई० में "क्यूरेटर ऑफ एन्श्यण्ट मॉन्यूमॅण्ट्स्" नामक पद पर एक नवीन अधिकारी की नियुक्ति करने का विचार किया। उस अधिकारी के लिए प्रत्येक प्रान्त के संरक्षणीय स्थानों की सूची बना कर उनमें से कौन-कौन से स्थान मरम्मत करने लायक तो नहीं परन्तु पूर्ण रूपेण नष्ट नहीं हुए हैं और कौन कौन से स्थान पूरी तरह नष्ट हो चुके हैं इत्यादि बातों का विवरण तैयार करने का कार्य निश्चित किया गया, इस योजना के अनुसार 'सेक्रेटरी आफ स्टेट्' को लिखा गया परन्तु उन्होंने लॉर्ड लिटन के प्रस्ताव को अस्वीकार करके यह भार डायरेक्टर जनरल के ही ऊपर डाल देने के लिए लिखा। परन्तु १८८० ई० में भारत सरकार ने भारत मन्त्री को फिर लिखा कि

डायरेक्टर जनरल को इस कार्य के लिए अवकाश नहीं मिलता है और दूसरे प्रबन्ध के बिना बहुत से महत्त्व के स्थान नष्ट होते जा रहे हैं। तब १८८१ ई० से १८८३ ई० तक मेजर कोल आ० ई० की नियुक्ति क्यूरेटर के पद पर हुई और उन्होंने इन तीन वर्षों में "प्रीजर्वेशन आफ नेशनल मॉन्यूमॅण्टस् आफ इण्डिया" नाम की तीन रिपोर्टें प्रकाशित कीं। इसके पश्चात् यह पद कम कर दिया गया।

सन् १८८५ ई० में कनिङ्गम साहब अपने पद से निवृत्त हुए। १८६२ से १८८५ ई० तक उन्होंने २४ रिपोर्टें प्रकाशित कीं जिनको देखने से उनके अलौकिक परिश्रम का अनुमान लगाया जा सकता है। इतनी योग्यता के साथ इतने बड़े कार्य को बहुत थोड़े ही मनुष्य कर सकते हैं। कनिङ्गम के बाद डायरेक्टर जनरल के पद पर बर्जेस साहब की नियुक्ति हुई। गवेषणा के अतिरिक्त संरक्षण का कार्य भी उन्हीं के अधिकार में सौंपा गया। सर्वे करने के लिए हिन्दुस्तान को पांच भागों में विभक्त किया गया और प्रत्येक भाग में एक एक सर्वेअर नियुक्त किया गया। बम्बई, मद्रास, राजपूताना और सिन्ध तथा पंजाब, मध्यप्रदेश और वायव्य प्रान्त तथा मध्यभारत, और आसाम तथा बङ्गाल, इस प्रकार पांच भाग नियत किए गये परन्तु सर्वेअरों की नियुक्ति केवल उत्तर भारत के तीन भागों में ही की गई; बम्बई तथा मद्रास प्रान्तों का कार्य डॉ० बर्जेस के ही हाथ में रहा।

परन्तु, अब तक भी सरकार की इच्छा इस विभाग को स्थायी बनाने की नहीं हुई थी। वह यह समझे हुए थी कि पाँच वर्ष में यह कार्य पूरा हो जावेगा; इसलिए प्राचीन लेखों को पढ़ने के लिए एक यूरोपिअन विद्वान् की नियुक्ति करने, साथ ही कुछ स्थानीय विद्वानों की सहायता लेने का निश्चय किया।

सन् १८८६ ई० में डॉ० बर्जेस भी अपने पद से विलग हुए इसलिए अब इस विभाग की दशा बिगड़ने लगी। सरकार ने एतद्विभागीय हिसाब की जाँच करने के लिए एक कमीशन नियुक्त किया जिसने अपनी रिपोर्ट में खर्चे की बहुत सी काट-छांट करने की सिफारिश की। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि ऐसी काट-छांट और कमी की सिफारिशें सरकार स्वीकार कर ही लेती है। डॉ० बर्जेस के बाद डायरेक्टर जनरल का पद खाली रखा गया और बंगाल व पञ्जाब के सर्वेअरों को भी छुट्टी मिली। यह काट-छाँट करने के उपरान्त सरकार ने इस योजना को केवल पाँच ही वर्ष चालू रखने का मन्तव्य प्रकट किया। परन्तु सरकारी आज्ञा मात्र से एकदम काम कैसे हो सकता है? १८६० ई० से १८६५ ई० तक के पाँच वर्षों में इस विभाग की दशा बहुत शोचनीय रही और काम पूरा न हो सका। १८६५ ई० से १८६८ ई० तक सरकार यह विचार करती रही कि इस विषय में क्या किया जावे? फिर, १८६८ ई० में यह विचार हुआ कि अभी इस विभाग से शोध-खोज का काम बन्द करके, केवल संरक्षण का ही काम लेना चाहिए। इस नए विचार के अनुसार निम्नलिखित पाँच क्षेत्र निश्चित किए गए —

(१) मद्रास और कुर्ग।
(२) बम्बई, सिन्ध और बरार।

(३) संयुक्त प्रान्त और मध्य प्रदेश।
(४) पञ्जाब, ब्रिटश बलूचिस्तान और अजमेर।
(५) बङ्गाल और आसाम।

सन् १८९९ ई० के फरवरी मास की पहली तारीख को लॉर्ड कर्जन ने एशिआटिक सोसाइटी के समारम्भ में इस विभाग को खूब उन्नत करने का विचार प्रकट किया। इसके पश्चात् १९०१ ई० में इस विभाग के लिए एक लाख रुपया वार्षिक खर्च की स्वीकृति हुई और डायरेक्टर जनरल की फिर से नियुक्ति की गई। सन् १९०२ ई० में नए डायरेक्टर जनरल मार्शल साहब भारत में आए और तभी से इस विषय का नया इतिहास आरम्भ होता है जिसके बारे में आज कुछ कहना मेरा विषय नहीं है। जब इस विषय पर अपना कुछ अधिकार होगा तभी इसका विवेचन किया जावेगा।

अंग्रेज सरकार का अनुकरण करते हुए कितने ही देशी राज्यों ने भी अपने यहां ऐसे विभागों की स्थापना की। भावनगर संस्थान के कितने ही पण्डितों ने काठियावाड़, गुजरात और राजपूताने के अनेक शिलालेखों और दान पत्रों की नकलें प्राप्त करके "भावनगर प्राचीन शोध-संग्रह" नामक पुस्तक में प्रकाशित की। काठियावाड़ के भूतपूर्व पोलिटिकल एजेण्ट कर्नल वाटसन् का प्राचीन वस्तुओं पर बहुत प्रेम था अतः वहां के कुछ राजाओं ने मिलकर राजकोट में "वाटसन् म्यूजियम" नामक "पुराण-वस्तु-संग्रहालय" की स्थापना की जिसमें अनेक शिलालेखों, ताम्रपत्रों, पुस्तकों और सिक्कों आदि का अच्छा संग्रह हुआ है। मैसूर राज्य में भी एक संग्रहालय की स्थापना हुई और साथ ही आर्किऑलॉजिकल डिपार्टमैण्ट भी स्वतन्त्र रूप से खोला गया है जिसके द्वारा आज तक अनेक रिपोर्टें, पुस्तकें और लेख-संग्रह आदि छप कर प्रकाश में आए हैं। यहां से एपिग्राफिआ कर्नाटिका नाम की एक सिरीज़ प्रकाशित होती है जिसमें हजारों शिलालेख, ताम्रपत्र इत्यादि निकल चुके हैं। इसी प्रकार त्रावणकोर, हैदराबाद और काश्मीर राज्यों में भी स्वतन्त्र रूप से कार्य होता है। इसके अतिरिक्त उदयपुर, झालावाड़ ग्वालियर, भोपाल, बड़ौदा, जूनागढ़, भावनगर आदि राज्यों में भी स्थानीय संग्रहालय बनते जा रहे हैं।

ब्रिटिश राज्य में सरकार और अन्य संस्थाओं तथा व्यक्तियों द्वारा संग्रहित पुरानी वस्तुओं को बम्बई, मद्रास, कलकत्ता, नागपुर, अजमेर, लाहोर, लखनऊ, मथुरा, सारनाथ, पेशावर आदि स्थानों के पदार्थ संग्रहालयों में सुरक्षित रक्खा जाता है; इन्हीं में से बहुत सी वस्तुएं लन्दन के ब्रिटिश म्यूजियम में भी भेज दी जाती हैं। इन विशिष्ट वस्तुओं का वर्णन विभिन्न संस्थाएं अपनी-अपनी रिपोर्टों और सूचिपत्रों ( कैटेलॉग्स् ) द्वारा प्रकाशित करती रहती हैं। शिलालेखों, ताम्रपत्रों और सिक्कों आदि विभिन्न विषयों की अलग-अलग विशेष पुस्तकें और ग्रन्थमालाएँ निकलती रहती हैं।

जिस प्रकार हिन्दुस्तान में पुरातत्त्व की गवेषणा का कार्य चालू हुआ उसी प्रकार यूरोप में भी चला। फ्रांस, जर्मनी, आस्ट्रिया, इटली, रूस आदि राज्यों ने इस

विषय के लिए अपने यहां पर स्वतन्त्र सोसाइटियों, एकेडेमिश्रां आदि स्थापित कीं और वहां के विद्वानों ने भारतीय साहित्य एवं इतिहास को प्रकाश में लाने के लिए अत्यन्त परिश्रम किया। हमारे नष्टप्राय: हजारों ग्रन्थों का, संग्रह करके, उनको पढ़ कर तथा प्रकाशित करके उद्धार किया है। संस्कृत और प्राकृत साहित्य को प्रकाश में लाने के लिए जितना काम जर्मन विद्वानों ने किया उतना दूसरों ने नहीं किया। तुलनात्मक भाषा-शास्त्र पर जर्मनों ने जितना अधिकार प्राप्त किया है उतना दूसरों ने नहीं। अन्यान्य विषयों पर भी बहुत सी विशिष्ट मौलिक शोधें जर्मन विद्वानों के हाथों हुई हैं। अंग्रेजों का तो भारत के साथ विशेष सम्बन्ध था, बस, इसीलिए उन्होंने थोड़ा बहुत कार्य करने का उपक्रम किया था। अस्तु।

इस प्रकार देश में और विदेश में व्यक्तियों और संस्थाओं द्वारा किए गए पुरातत्त्वानुसंधान से हमारी प्राचीन संस्कृति के बहुत से अज्ञात अध्याय सामने आए हैं। शिशुनाग, नन्द, मौर्य, ग्रीक, शातकर्णी, शक, पार्थीअन्, कुशाण, क्षत्रप, आभीर, गुप्त, हूण, यौधेय, वैस, लिच्छवी, परिव्राजक, वाकाटक, मौखरी, मैत्रक, गुहिल, चावड़ा, चालुक्य, प्रतिहार, परमार, चाहमान, राष्ट्रकूट, कच्छवाह, तोमर, कलचुरी, त्रैकुटक, चन्देला, यादव, गुर्जर, मिहिर, पाल, सेन, पल्लव, चोल, कदम्ब, शिलार, सेन्द्रक, काकतीय, नाग, निकुम्भ, बाण, मत्स्य, शालंकायन, शैल, भूपक आदि अनेक प्राचीन राजवंशों का एक विस्तृत इतिहास जिसके विषय में हमें एक अक्षर भी ज्ञात नहीं था, इन्हीं विद्वानों के प्रयत्नों से प्राप्त हुआ है। अनेक जातियों, धर्मों, सम्प्रदायों, धर्माचार्यों, विद्वानों, धनिकों, दानियों और वीर पुरुषों के वृत्तान्तों का परिचय मिला है और असंख्य प्राचीन नगरों, मन्दिरों, स्तूपों और जलाशयों आदि की मूल बातें विदित हुई हैं। सौ वर्ष पूर्व हमें इनमें से किसी वस्तु के बारे में कुछ भी मालूम नहीं था।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्टतया प्रतीत होता है कि पुरातत्त्व संशोधन का कितना अधिक महत्त्व है। यह देश के इतिहास को शुद्ध और सम्पूर्ण बनाता है। इससे प्रजा के भूतकाल का यथार्थ ज्ञान प्राप्त होता है और भविष्यत् में हमें किस मार्ग का अवलम्बन करना है, इसका सच्चा मार्गदर्शन होता है।

विद्वानों का कहना है कि भारतवर्ष में जो पुरातत्त्व सम्बन्धी कार्य अब तक हुआ है वह देश की विशालता एवं विविधता को देखते हुए केवल बाल-बोध पुस्तक के प्रथम पृष्ठ का उद्घाटन मात्र हुआ है। उनके ऐसा कहने में कोई अत्युक्ति नहीं है। क्यों कि इस देश में अभी तक इतनी अधिक वस्तुएं छिपी, गड़ी और दबी हुई पड़ी हैं कि सैंकड़ों विद्वान् कितनी ही शताब्दियों तक परिश्रम करके ही उनको प्रकाश में ला सकते हैं।

भारत के राष्ट्रीय जीवन के नवीन इतिहास सम्बन्धी कोरी-पुस्तक में "श्री गणेशाय नमः" लिखने का विशिष्ट श्रेय गुजरात ही को प्राप्त होगा, ऐसा ईश्वरीय संकेत दिखाई पड़ता है। अतः हमारी ऐसी भावना होनी चाहिए कि राष्ट्रीय इतिहास के प्रत्येक अध्याय के आदि में गुजरात का प्रथम उल्लेख हो और तदनुसार

# कातन्त्रविभ्रमस्य परिचयः

जानकीप्रशाद द्विवेदः, व्याकरणाचार्य, विद्यावारिधिः (पीएच०डी०),
वाराणसेय संस्कृतविश्वविद्यालय, वाराणसी ।

प्रतिष्ठानेऽस्मिन् कातन्त्रविभ्रमस्य सङ्गृहीतान् नव हस्तलेखान् पर्यालोच्य सङ्क्षेपतस्तत्परिचयः प्रदीयते—

व्याकरणस्य लोकव्यवहाराधीनत्वात् काव्यशास्त्रादौ प्रयुक्तानां कतिपय-शब्दानां साधनार्थं केनचिदाचार्येण कातन्त्र-सम्प्रदाये मूलादतिरिक्तानि कानिचित् सूत्राणि प्रणीतानि, यानि साम्प्रतं नोपलभ्यन्ते । तेषां गौरवमप्रसिद्धिश्चैकेन गोपालाचार्योक्तवचनेन विज्ञातुं शक्यते, यथा—

'कातन्त्रसूत्रविसरः खलु साम्प्रतं यन्नातिप्रसिद्ध इह चातिखरो गरीयान्'
—(हस्तलेख-संख्या ४०२, पत्रम् १) इति ।

'लोपो व्योर्वस इति क्षेमेन्द्रकृतवृत्तिसूत्रेण वकारलोपः' (ह०लें० स० २४३९, पत्रं ६–आ) इति चारित्रसिंहवचनात् तेषां व्याख्यानं क्षेमेन्द्रेण कृतमिति-प्रकल्प्यते । मण्डननामकेन केनचिदाचार्येण क्षेमेन्द्रकृतवृत्तेर्व्याख्यानमारचित-मिति । 'आद्दतः किद्विश्चेति चकारादुपधालोपिनामिति क्षेमेन्द्रोक्तेश्चकाराद् गमि–जनि–हनिभ्यः किरिति मण्डनव्याख्यानेन किप्रत्ययः' (ह०ले०सं० २४३९, पत्रं ४–अ) इति वचनाद् वक्तुं शक्यते । एषा व्याख्यानद्वयी नोपलभ्यते ।

कातन्त्रसम्प्रदायघटकेन केनचिदाचार्येण विभ्रमसूत्रैर्मूलसूत्रैश्च प्रयत्नेन साधिताः प्रायेण सार्धशतमिताः शब्दाः प्रश्नरूपेणैकविंशतिश्लोकेषूपनिबद्धाः । तत्र अवचूरिनामकस्य पूर्वतनस्य तदीयव्याख्यानस्य प्रणेता क इति न ज्ञायते । अवचूरिकृता प्रसङ्गादन्येऽपि कतिपये शब्दाः संसाधिता इति 'इदं श्लोकद्वयमव-चूरिकृता कृतमस्ति प्रसङ्गतः' (ह०ले०सं० २४३९, पत्रं ५–आ) इति चारित्र-सिंहवचनाद् विज्ञायते ।

---

( पृ० ३८ का शेष )

ही हमको प्रगति करनी चाहिए और ऐसे ही किसी अज्ञात संकेत के आधार पर हमारे राष्ट्रीय शिक्षण-मन्दिर के साथ पुरातत्त्व-मन्दिर की स्थापना हुई है । इसको सफल बनाने का लक्ष्य हमारे प्रत्येक विद्यार्थी में प्रभु उत्पन्न करें इसी अभिलाषा के साथ मैं अपना व्याख्यान समाप्त करता हूँ ।

अवचूरि-टीकामाश्रित्य अवचूर्णिनाम्नी टीका नीलकण्ठतनयेन श्री गोपालाचार्येण (सं० १७६३), चारित्रसिंहेन च (वि०सं० १६२५) प्रणीतोपलभ्यते (द्र०–ह०ले०सं० ४०२।२४३९, १७३३१)। चारित्रसिंहो जैनमतानुयायीति प्रतिभाति, यथोक्तं तेन मङ्गलश्लोके—

'नत्वा जिनेन्द्रं स्वगुरुं च भक्त्या' इत्यादि ।

आचार्यद्वयेन कृतमिदं व्याख्यानं सारस्वतव्याकरणसूत्रमनुसरति, यथोक्तमादौ–

'तत्सत्प्रसादादवचूर्णिमेतां लिखामि सारस्वतसूत्रयुक्त्या' इति ।

मध्येऽपि सारस्वतचन्द्रिकाकारमतमादृतम्, यथा—

'क्वचिदाख्यातस्य टेः प्रागकजिति सिद्धान्तचन्द्रिकायां तद्धितप्रकरणे, तेनात्राऽकच्'
—(ह०ले०सं० ४०२, पत्रं ६–अ) इति ।

कातन्त्रविभ्रमसूत्रसाधितानां प्रयोगाणां दुर्ज्ञेयत्वं व्याख्याकारैरुद्घोषितम्, यथा—

प्रायः प्रयोगा दुर्ज्ञेयाः किल कातन्त्रविभ्रमे ।
येषु मोमुह्यते श्रेष्ठः शाब्दिकोऽपि यथा जडः ॥ इति ।

अत एवात्रोक्तशब्दसाधनानभिज्ञः शाब्दिकोऽवश्यं सत्यवसरे यथोक्तप्रतिपादनाभावात् कुत्सामाप्नोतीत्यन्ते उच्यते —

स्वेदं समुद्वहति जृम्भणमातनोति, आशा विलोकयति खं पुनरेव धात्रीम् ।
निद्रायते किमपि जल्पति भावशून्यं, भूताभिभूत इव दुर्वदकः सभायाम् ॥ इति ।

व्याख्याकारेण चारित्रसिंहेनापि प्रसङ्गतः कतिपये शब्दाः साधिताः, यथोक्तमपि—

'इति रूपमनुक्तमपि प्रसङ्गादिह लिखितम्'
(ह०ले०सं० २४३९, पत्रं ४–अ) इत्यादि ।

अत्र च टीकाकारैः प्रसङ्गत उपन्यस्ताः श्लोकाः [ ] प्रकोष्ठाभ्यन्तरे सङ्कलिताः ।

आशासे–शाब्दिका भ्रमापनोदनायाऽवश्यं लघुकायस्याप्यस्य कातन्त्रविभ्रमस्य समादरं करिष्यन्तीति ।

॥ ॐ नमः परमात्मने ॥

कस्य धातोस्तिबादीनामेकस्मिन् प्रत्यये स्फुटम् ।
परस्परविरुद्धानि रूपाणि स्युस्त्रयोदश ॥१॥
अग्निभ्यः पार्थिवेभ्यश्च प्रथमान्तं पदद्वयम् ।
एपेति नैतदावन्तं श्वानस्येति च साधुता ॥२॥

भवेतामिति शब्दोऽयं बहुत्वे वर्तते कथम् ।
याग: षष्ठीसमास: स्यात् पञ्चमी पर्वतान्न हि ॥३॥
पञ्चड्ढलानि-साधुत्वं कथं याति च लक्षणात् ।
मुनीनामिति नो षष्ठी त्याद्यन्तं चाश्व इत्यपि ॥४॥
अष्टाविति कथं द्वित्वं राजेभ्य इति साधुता ।
तेनातत त्याद्यन्तं स्याद्यन्तं च भवेदिति ॥५॥
हस्तौ द्विवचनं नेदं शोभनेष्वित्यसप्तमी ।
क्षीरस्येति न षष्ठीयं त्याद्यन्तं वायुरित्यपि ॥६॥
दधिष्येति कथं साधु मधुष्येति तथापरम् ।
केनेत्येतत् त्याद्यन्तं स्यादपापा इत्यसुप्तता ॥७॥
एतेषां कथमेकत्वं वनानि ब्राह्मणैरमी ।
वृक्षा: पचन्ति येषां यान् वायुभ्य: पार्थिवा: सुरा: ॥८॥
शेषाणि पूर्वाणि समान्यजानां, फलानि मूलानि हलान्यगूनाम् ।
अभ्राणि नीलानि दलान्यतस्य, शूलानि कूलानि तटान्यपापा: ॥९॥
सुखानि शीलानि नखान्यसास्ना:, खलानि पापानि बलान्यचर्चा: ।
पुराणि वर्षाणि मवान्यमीना, घनानि सर्वाणि बिलान्यपां च ॥१०॥
[समुच्चयाच्चकारस्य स्याद्यन्तं भवतीत्यपि ।
तथा जग्लौ दधौ मम्लौ ररावित्यादयोऽपरे ॥१॥
जग्ले-पपे-ददे-मम्ले - जज्ञे - सस्ने - मुखास्तथा ।
विना परोक्षामभ्यूह्या: स्याद्यन्ता बहवो बुधै: ॥२॥ ]
अधीये नोपसृष्टस्य शक्यतीत्यस्य साधुता ।
जागर्त्तीति न जागर्तेरुच्यतीत्यस्य साधुता ॥११॥
अस्यन्निति न शत्रन्तं व्याघ्रा इत्यस्य चैकता ।
बहुत्वं च तथैतेषामसुर्मेषारुरेव च ॥१२॥
एतानि न स्याद्यन्तानि यस्य तस्याश्वमस्य च ।
शेलुर्बिभीतको वेणु: पञ्चैते स्म ऋणानि च ॥१३॥
[तत: समुच्चयाच्चस्य शसन्तं पर्वतस्थिति: ।
आगमोऽनुजगृहे राजसे हर हरेऽव्ययम् ॥३॥
समुच्चयात् पुनश्चस्य प्रयोगास्त्यादिजा अमी ।
अस्यास्तस्याश्च यस्याश्च कस्या इति चतुष्टयी ॥४॥

एकस्य कस्य धातोः स्यात् त्यादौ रूपचतुष्टयम् ।
पर्वाणि पर्वतं पर्व पर्वतोऽपूर्वमेव च ॥१४॥

[जलानि वातो वातं च वातः प्रातस्तथैव हि ।
श्यामोऽध्यायोऽनलश्चाऽप्यक्षरं चेति समुच्चयात् ॥५॥]

अशोकोऽनीस्तथा वातादश्रीणामरुणोऽवनम् ।
धनानि स्वोऽखिलं यानि शुभानि च रणानि च ॥१५॥

[उपलक्षणतो लोके इति रूपाणि विभ्रमे ।
कुण्डे पिण्डे तथा गुण्डे मुण्डे चण्डे च खण्डके ॥६॥]

सास्नाया आक्रुशेऽताता अममर्मा अवटोऽनृणाम् ।
घेष रेफ रवेऽपेपेरदोधूर्त्ताऽनिलः कुतः ॥१६॥

अरये नभसे पयसे वयसे लोके नसे गवे वृक्षे ।
अहयोऽकवेऽयसे लेखे रेखे रजसि रेजेऽलिट् ॥१७॥

अद्यौनं नञ्समासोऽयं सर्वेषामिति चैकता ।
अन्येषामपरेषां च केषां कासां तथा दश ॥१८॥

[समुच्चयाच्चकारस्य चक्रे सम्बोधनं विना ।
अवस्था इति शब्दोऽपि स्यादेकवचनः कथम् ॥७॥]

अगारं द्वे पदे स्यातां प्रथमान्तं शुनस्तथा ।
कर्तृ रूपे कथं स्यातां दीयते धीयते तथा ॥१९॥

त्याद्यन्तमालयं प्रोक्तमसमस्तमजापयः ।
अन्यान्योऽनालयश्चैव ह्यश्वालयमशालयः ॥२०॥

[अजिनान्यधिक्षताधुक्षतेत्याद्यपराण्यपि ।
शेषे च देवते देवतामित्यादि चकारतः ॥८॥]

अव्याधयोऽसमस्तं स्याद् ये येषाञ्चक्रिरे पदम् ।
अक्षेपयस्तथा चान्यदक्षेवयममी वयम् ॥२१॥

[असतीति कथं साधु करतीति तथापरम् ।
कथमेतानि साधून्युवोच्यते भवते सह ॥९॥

मा-रिरेकाम मा-मिमीमाम मा-मीमिले तथा ।
असीदामादिका ज्ञेयाः प्रयोगा अनया दिशा ॥१०॥

शुभम्

# राठोडांरी वंशावली

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

॥ अथ [1]राठोडांरी वंशावली लिष्यते ॥

॥ श्लोकः ॥

१. [†]अविरलमदजलनिवाहं भ्रमरकुलानेक-सेवत-कपोलं ।
वंछितफलदातारं कामेसं गणिपति वंदे ॥ १

२. सीतागारं भुजगसयनं पद्मनाभं सुरेसं
विश्वाधारं गगनसदृशं मेघवर्णं सुभागं ।
लक्ष्मीकांतं[2] कमलनयनं योगभि ध्यांनगम्यं
वंदे विश्वं भवनभयहरं विष्णु वंदे[3] मुकंदं ॥ २

३. यत्पुन्यं तीर्थजात्रायां यत्पुन्यं साधुदर्शने ।
यत्पुन्यं तर्पणं श्राद्धे तत्पुन्यं वंशसोधने[4] ॥ ३

॥ कवित्त ॥

४. कहे एम मुचकुंद सुणो षित्री धरपती ।
दुरभिष्ये अन दांन जेठ पो दीयै उकती ।
वीस षंडे सोव्रन दीयै कुरषेत मझारह ।
मकरे तिल प्रयाग सहस मण दीयै उदारह ॥
गऊ सहस गया कोठै दीयत, लाष जती भोजन व्रली ।
फलो इतो होइ कहि रायरिष, सुणत एक वंशावली ॥ १

५. गउ दांन धर दांन दांन गज वाज समप्पण ।
कनक दांन जल दांन दांन अंन अंबर भूषण ।
गंगा गया प्रयाग गंगासागर गोमती ।
सनांन कीयां फल जितो तितो द्विजवंसकिरती ।
निज श्रवण सुणत फल उपजै, गुरु वंसावली अरघ करि ।
वोह राजधणी गज वाज हुइ, हरत लहै मचकुंद वर ॥ २

---

1 B श्रीराठोडांरी । † प्रारंभके ६ पद्य C प्रतिमें नहीं है । 2 B लिक्ष्मीकांता ।
3 B विष्ण वंदे मुकंदे । 4 यह श्लोक B में नहीं है ।

६. व्रज देशां चंदण वनां मेर पहाडां मोड़ ।
उदधि सरां वासिग नगां ज्यु राजकुली राठोड ॥ १

॥ कवित्त ( BC अथ नीसरणी बंध कवित ) ॥

७. अंबर मेर आधार मेर अंबर आधारै ।
धरा सेस आधार सेस कोरंभ आधारै ।
कोरंभ नील आधार नीर अनलां आधारां ।
अनल सगति आधार सगति करतार सधारै ।
करतार एक भीनो रहै, कवि मरचि दीजै वयण ।
गोविंद भणे गोविंद भणि, भणि [1]भणि रे गोविंद भणि ॥ १

८. धरा पवन संचरै पवन उपरि है जलहर ।
जलहर उपरि सूर, सूर उपरि है ससिहर ।
ससि उपरि है तार, तार उपरि ध्रूमंडल ।
ध्रूमंडल [2]उपरि नाखित्र, जहां ब्रहमंड कमंडल ।
ब्रहमंड कमंडल उपरै, तहां छै सिंभ निसंभ भणि ।
भो व्रजनाथ बंधव वयण, तो कमधजवंस उपरि कवण ॥ २

॥ वार्त्ता ( BC अथ वार्ता ) ॥

§१. प्रथम अपरंपर [3]पुरस सिष्ट रचणरी मनसा कीधी ।

॥ कवित्त ॥

९. पुरषोतम[4] चितवै श्रृष्टि व्यापार रचीजे ।
इम चितवतां आप सयन निद्रावसि सूजै ।
किता जुग विवसाय परम निद्राभर पोढयो ।
जोगनिद्रा जोगेस आठ क्रम पवनह उठयो[5] ।
अंगुष्टमात्र वडपांन परि, चवद[6] जुग चतुरंग चर ।
जागीयो जांम जोवै जुगति, अवन रची नहु नर अमर ॥ १

१०. प्रथम सुमति[7] उतपन, सुमति ते [8]सगति उपनि ।
तेज अगनि उतपन[9], अगनिह्नं जोति उपनी ।

---

1 BC भणि रे भणि । 2 A में 'उपरि' शब्द छूट गया है । 3 BC श्रीनारायणजी ।
4 C पुरिषोत्तम । 5 C पवन उलटयो । 6 C चउद युग । 7 BC वुधि उत्तपन ।
8 BC वुधितें । 9 BC उत्तपन्न ।

जोति हूंता हूअ फेण, फेणहूं इंड उपाया ।
इंड थकी हुअ[1] कमल, कमल विकसित[2] त्रिहूं काया ।
व्रहमा विसन ईसर सुवर, केसव एक त्रय वप्प किय ।
रिदय निलाट[3] अरि[4] नाभिहूं, व्रहमा विसन महेस थिय[5] ॥ ४

॥ वार्ता ( B अथ वार्ता ) ॥

§२. नाभि कमलथी [BC तो] व्रहमाजी उपाया, रिदय कमलथी विष्णजी उपाया । निलाट कमलथी महादेवजी उपाया । व्रहमाजीनै तो सिष्टरो व्यापार सूप्यो । व्रिष्णुजीनै[6] भरणपोषण [B रो भंडार] सूप्यो । महादेवनै षपति सूपी, तु षपावतो जा । ( BC महादेवजी तो रिष्यावंत त्युं षपति पिण सूपी । पाछला जीव वधता देषै तरै आगला जीव षपाय देवै । ) इण तरै सिष्टरी मंड ठहराई ।

॥ कवित्त ॥

११. वसुधा वासण[7] कज आदि सोई व्रहम उपाया ।
व्रम्ह कीय[8] सुविचार वसुह किण विध[9] वसाया ।
व्रंम्ह [10]कमलथी बीज वृक्ष[11] सोई प्रथवी वायो ।
साषि[12] सहित पांगुरै सदल[13] फल फुलै छायो ।
मानव रूप फल मुष कमल, इसा[14] आइ अषै अई ।
मांनुक्ष[15] वृक्ष नवि नीपजै, कहो व्रंम्ह कीधो कई ॥ १

॥ छंद जाति मोतीदांम ॥

१२. पयंपै पूरण आदि पुरुष, उपन्नै[16] व्रह्मा ईस अलष ।
थया तिण रूप सरूप सुथट्ट, घटै[17] घटघाट वैराट सुघट्ट ॥ १
१३. उपजै[18] पिंड विना नहि इंड[19], उपना पिंड हूंता व्रहमंड ।
इसी विधि[20] दषवि आदि अलष, प्रछन थया तदि आदि पुरुष ॥ २
१४. व्रह्मा रुद्र विसन विचार, प्रथमी कीध प्रगट विहार ।
प्रथीवि जल वायस तेज आकास, प्रगट्टे पांचू तेज प्रकास[21] ॥ ३

1 B हुइ । 2 B विकसति । 3 C लिलाट । 4 B अरु । 5 A थीय । 6 A विष्णुनै । 7 A वासणि कज । 8 A कीयो । 9 A विवध वसायो । 10 BC व्रहमा कायमल वीज । 11 BC वृष । 12 BC साष । 13 BC सुदल । 14 B ईसो । 15 C मांनुष्य । 16 BC उपना । 17 BC घडै । 18 BC उपजे । 19 A ईड । 20 BC इसी दषवि । 21 A आकास ।

१५. मनछा इंछा[1] कीध मुकंद, इसी विधि ब्रह्मा कीध सुरिंद।
न वाजै ताली एकण हाथ, निगम दुविधि कहै नरनाथ ॥ ४

१६. दुवै नर नारि उपाय नरिंद, विन्हे[2] सुष भोगै इंद नरिंद।
निपाये[3] पाप धरम नि दांन, अवगति मति गियांन[4] धियान ॥ ५

१७. विन्हे पष कृष्ण सुकल विधांन, विन्हे वपु अंग सुदक्षिण वांम।
ब्रह्मा दक्षण अंग वदीत, निपायो दक्ष प्रजापति मीत ॥ ६

१८. वामांग दक्ष रूपा त्रिय वंस, प्रजापति दीध प्रीया अवतंस।
चवै चत्र वेद चवद सासत्र, चतुर्मुष वेदा वेद पवित्र ॥ ७

१९. कीया जग[5] जागि नवग्रह क्रम्म, सुत्री वर कीध ग्रहस्था ध्रंम।
करे संसार ग्रहस्थाचार, ब्रह्मा कीध प्रजा विवहार ॥ ८

२०. अठोत्तर पुत्री जाति अनूप, भला सुत दोइ हजार सरूप[6]।
उपना एकण पिंड अनेक, हूवा संसार-व्यापक हेक ॥ ९

॥ कवित्त ॥

२१. ब्रह्मा आप चीतवै सिष्ट सगली वासिजै[7]।
मांनव जन उपजै सो विधि साची परि किजै।
आगि[8] उदक कुस गंग जिग[9] जागवि कुसम जल।
वेदमंत्र उच्चरै मंत्र आहूत दे कमल।
उचरे ब्रह्म इहां पुरस इक, जगन्य[10] पुरष जग्यो जहां।
कासिव रिष सुरनर कहै, तेजवंत प्रगट्यो तहां ॥ १

॥ दूहा ॥

२२. पुत्री प्रजापति तणी तेरै[11] कन्या नांम।
कासिवसु पांणग्रहण करि वर कीधो विश्रांम ॥ १

२३. वर कीधो विश्राम,[12] वधीयो कुल-विस्तार।
प्रथवी सारीमै प्रगट, परत न लभै पार ॥ २

---

1 C मनसा इंछा। 2 BC विनै। 3 BC निपावें। 4 A धीयांन गीयांन। 5 BC जगि जाग। 6 B सभूप; C तनभूप। 7 A वासजे। 8 BC आदि। 9 BC जिगन जागव। 10 B जगिन; C जिगन। 11 C तेरहै। 12 A तिणहूं प्रथवीमैं।

२४. परत[1] न लभै पार, तिण पसरी वेल अपार ।
उत्तम मध्यम अधममैं, नर सुर नागकुमार ॥ ३

२५. नर[1] सुर नागकुमार, जल थल पुहवी धात जगि ।
उदधि इला अवतार, वसुधा तो कासिप वधी ॥ ४

॥ अथ वार्त्ता ॥

§३. दक्ष प्रजापति राजा । तिणरै तेरै पुत्री हुई । तिक[2] राजा कासिपनै परणाई । तिणरो विस्तार कहै छै । प्रथम रांणी दैत्या १, तिणरा तेतीस कोडि देवता हुवा । बीजी रांणी आदित्या २, तिणरा बहुत्तर[3] कोडि दांणव हुवा । तीजी रांणी कद्रु नांमा ३, तिणरा नवकुली नाग हुवा । नागांरा नांम[4] – तक्ष नाग १, पदम नाग २, महापदम नाग ३, संषचूड नाग ४, पुलस्त नाग ५, कंकोड नाग ६, परडोत्तर नाग ७, आठमो कंटक भुजपरि नाग ८, नवमो सेष नाग ९, ए नवकुली नाग उपना । चोथी रांणी विनीता ब्रहमाणी ४, तिणरै पुत्र ३– पहिलो नवनाटक[5] १, बीजो चंद्रमा २, तीजो कोरंभ ३ । पांचमी रांणी भांनमती ५, तिणरै बारै आदित्य,[6] सतावीस नक्षत्र हुवा । छठी रांणी वरणतारा ६, तिणरै आसण गरुड पंखी पंषेरु[7] उपना । सातमी रांणी सत्यभांमा ७, तिणरै अठ्यासी सहस्र रषेस्वर हुवा । आठमी रांणी सुप्रभा ८, तिणरा १२ मेघ हुवा । नवमी रांणी कनकरेषा ९, तिणरा छतीस जाति पवन उपना[8] । दसमी रांणी कालंजरी १०, तिणरा पुत्र धूम्र १, पाषाण २, वासदेव ३, च्यार पांन[9] ४, चोरासी लष्य जीवाजोनि उपनी । इग्यारमी रांणी मेघनादा ११, तिणरै पुत्र छपन कोडि मेघमाला[10] । बारमी रांणी कालांसि १२, तिणरा[11] अष्टकुली पर्वत, पट् दर्शण, सात[12] समुद्र उपना । तेरमी रांणी षडनेत्रा १३, तिणरी[13] अढारै भार वनासपती हुई । ओ तेरै रांणीयांरो परवार जाणवो[14] ।

§४. प्रथम तो सतयुगरी थापना । सतरै लाष अठावीस हजार वर्ष प्रमाण[15] । तिण जुगमांहे श्रीपरमेसरजी च्यार अवतार लीया । प्रथम मच्छा अवतार १,

1 C में ये दोहे उलट पुलट क्रममें लिखे हैं । 2 BC तिको । 3 B. तिणरै वहोत्तर । 4 C में यह वाक्य नहीं है । 5 BC नारिक । 6 C १२ सूर्य १२ आदित्य हुवा । 7 BC पंषी जाति । 8 C आठमी रांणी कनकरेषा तिणरा छतीस जाति पवन उपना । नवमी रांणी सोमावती तिणरै चंद्रमा नै सूर्य उपना । 9 BC पांणि । 10 C मेघमालानै सोलै शृंगार हुवा । 11 A तिणरै । 12 A तीन समद्र । 13 A तिणरै । 14 C छै । 15 A सतयुग प्रमाण १७२८००० ।

द्वितीय कूर्म अवतार २, तृतीय वाराह अवतार ३, चतुर्थ[1] नरसिंघ अवतार ४। (BC ए च्यार अवतार। तिण युगमाहे मनष्यरी काया सो ताड प्रमाण उंचपणै, १ लाप वरसरो आउपो। एकवार प्रसूत जुगलपणे। कल्पवृक्ष मनोकामना पूरै। एकवार वावै इकवीस वार लुणै। पुन्य विस्वा १९, पाप विसवो १।) एकवार प्रसूत जोडो जनमै[2]। सत्य माता, सत्य पिता, सत्यासत्य चालै[3]। प्रलै कालरी आदि श्री अवगतिरूप श्री परमेस्वरजी सिष्ट करता[4]। तिण जल सोषनै प्रथवी उपाई[5]। पवन पांणी आकास तेज उपाया।

( यहां पर BC मैं नीचे लीखे श्लोक मिलते हैं— )

**२६. अंडजा पक्षसर्पाद्या पोतजा कुंजरादय।**
**रसजा मक्षीकीटाद्या नृगजाद्या जरायुजा ॥ १**
**२७. जूकाद्या स्वेतजा मच्छा कच्छाद्या च जलोद्भवा।**
**सुर वनस्पति कायस्यु उपपातका देवनारिका ॥ २**

*

§५. तत्र प्रथम ॐकार शिव नै सक्ति ब्रह्माथी सर्व सिद्धि उपनी। ब्रह्मापुत्र सप्तरिष। ब्रह्माकै टीकै तो मारीच १ आत्रेय २ भृगु ३ अंगराज ४ पुलहकृत ५ पुलहस्त ६ वासिष्ट ७ ए सात रषेस्वर हुवा।

( इसके स्थान पर BC मैं निम्न लिखित पंक्तियां हैं— )

(तत्र प्रथम तो ॐकार १ सिव सक्ति २ व्यक्त ३ अनाथ ४ इंद्र ५ इंद्राधिप ६ बुदबुदाकार ७ ब्रह्मा ८ ए आठ भ्रात्र[6] श्री परमेस्वरजी उपाया। ब्रह्माथी सर्व सिष्ट उपनी। ब्रह्मापुत्र सनक १ सनंद २ सनतकुमार ३ कपिल ४ वोट ५ ए तो पांच पुत्र ब्रह्मारा। तिके तो जोगेस्वर हुवा। ब्रह्मापुत्र आत्रैय १ भृगु २ अंगराज ३ धरम ४ पुलहकृत ५ पुलहस्त ६ वासिष्ट ७ ए तो सप्त रषेस्वर हुवा।)

§६. ब्रह्मारै सात पुत्री हुई— [7]दत्तकला १, अनार्या २, श्रद्धा ३, कीर्ति ४, अनुभवा ५, सांति ६, अरुधनी ७। ए सात पुत्री सातां रषेस्वरांनै परणाई। ब्रह्मापुत्र मारींच तस्य भार्या[8] दत्तकला, तस्य पुत्र कासिव, [9]तिणरै ७ पुत्र। प्रथम तो सूर्य १, दुजो इंद्र २, उपेंद्र ३, गरुड ४, अरुण ५, सारथी ६, जटाय

1 BC चोथो। 2 BC में यह वाक्य नहीं है। 3 BC सत्य वाचा। 4 BC कर्ता। 5 BC जल सोपंत करिनै सिष्ट उपाई। 6 C भाई। 7 B कर्दमपुत्री दत्तकला। 8 A मारीच भार्या। 9 A कासिव पुत्र सूर्य १, इंद्र २।

७। जटाय पुत्र संपाति[1] । गरुड पुत्र कटुसेन। कटुसेन पुत्र नवकुली नाग। सूर्य पुत्र आत्रेय। आत्रेय भार्या अनुसया, पुत्र दत्तात्रेय १, चंद्रमा २, दुर्वासा ३। भृगु भार्या श्रद्धा नांम, श्रद्धा पुत्र कवि अपर नांम शुक्र। अंगराज भार्या कीर्त्ति, तस्य पुत्र वृहस्पति। [2]वृहस्पति पुत्र पुलहक्रत [B भार्या मनभवा] तस्य पुत्र भारद्वाज। पुलहस्त भार्या सांति, तस्य पुत्र विश्वश्रवा। विश्वश्रवा[3] पुत्र कुबेर। कुबेर पुत्र नलकुवर। [4]कुबेर भार्या मणिग्रही, तस्य पुत्र नैकस। नैकस भार्या प्रकटा। प्रकटा पुत्र ३—रांवण १, कुभकर्ण २, बभीषण ३ [B पुत्री सुर्पनिषा ४]। वासिष्ट भार्या अरुंधगा[5] । तस्य पुत्र पारासर। पारासर पुत्र व्यास कृष्ण १, दुजो दींपायन। दीपायन पुत्र सुषदेव तिको जोगेस्वर[6] हुवो।

॥ इति राजा कासिबरी साषा कही ॥

( BC इति ब्रह्मारी अवलादि रिषांरी साषा उतपति कही। )

इसके बाद BC में निम्न लिखित वर्णन लिखा हुआ है —

ब्रह्मा पुत्र दक्षि १, दुजो प्रजापति २। दक्ष भार्या प्रसूति पुत्री ४० जनमी जिणमै १३ कन्या तो कासिबने परणाई। संतावीस कन्या चंद्रमानै परणाई।

*

§७. अथ राजा कासिबरी अवलादि राजकुली राठोड वंसरी वंसावली वषांणीयै छे।

॥ कवित्त ॥

२८. कहै एम मचकुंद सुणो षित्री धरपती।
दुरभिष्ये अन दांन जेठ पो दीयै उकत्ती।
वीस षंडी सोव्रंन दीयै कुरषेत्त मझारह।
मकरे तिल प्रयाग सहस मण दीयै उदारह।
गऊ सहस गया कोठै दीयत, लाष जती भोजन वली।
फल इतो होय कहि राय रिष, सुणत एक वंसावली ॥ १

२९. गउ दांन धर दांन दांन गज वाजि समप्पण।
कनक दांन जल दांन दांन अन अंबर भूषण।

---

1 A जटाय ७ संपात ८। 2 B वृहस्पति पुत्र कच। पुलहक्रत। 3 B विस्वश्रमा। 4 B विस्वश्रमा भार्या राक्षसणी तस्य पुत्र नैकस १। 5 अरुघती। 6 महाजोगेस्वर।

गंगा गया प्रयाग गंगासागर गोमती।
सनांन कीयां फल जितो तितो निजवंस कीरती।
निज श्रवण सुणत फल उपजै, गुरुवंसावलि अरघ करि।
वोह राजधणी गज वाज हुइ, हरत लहै मचकुंद वर ॥ २

३०. अडसठ तीरथ पुनि पुनि चंद्रायण तप तपीयां।
एकादसी व्रत पुनि पुनि विष्णु नांम जपीयां।
चांद सूरज परब पुनि पुनि कुरषेत जवायां।
जिग जाप जप पुनि पुनि सिर तीरथ न्हायां।
सांभलि वेद पुरांण पुनि, सो पुनि इतरो लहै।
एक पुनि वंसावली, लाष पुनि सिरषो लहै ॥ ३

॥ दूहा ॥

३१. वंसावली सुणीयां थकां न रहै पाप लिगार।
जनमैजै राजा सुणी गया कोढ अढार ॥ १
पीढी पीढी जाग फल वंसावली सुवषांण।
मनमै मैल रहै न कदे ज्युं जल सावू जांण ॥ २

३२. कांनें कुल सुणीयां थकां पातिग दूर पुलाय।
जिम पारस पाषांण ज्यु लोह कंचन होय जाय ॥ ३

३३. च्यार हित्या सब तै बुरी गोत हित्या ज विसेष।
वंस सुण्यां पातिग टलै यामै मीन न मेष ॥ ४

३४. व्रज देसां चंदण वनां मेर पहाडां मोड।
उदधि सरां वासिग नगां ज्युं राजकुली राठोड ॥ ५

॥ कवित्त ॥

३५. प्रथम आदि जुगादि मांन वसुधा वर क्षित्री।
वलि राजा चकवै मानधाता चक्रव्रती।
भारथ हुवो कुरषेत करणरो कथन रहावे।
मछ भांण वाराह कीरत कमधजां भलावे।
जै चंद हुवो दल पांगलो, असी लाष साहण सधर।
छतीस वंस राजनकुली, वडो वंस राठवड घर ॥ १

३६. वंस पैतीसे वाच दीधी इसी दांणवे ।
सो जाणे ज्यो साच कीरति राठोडां कही ॥ ६

३७. राठोडांरी कुलत्रीया सीयला ग्रभ न धरंत ।
ज्यांहरा प्रीउ न भाजणा से भजणा न जणंत ॥ ७

३८. करण मरंतै युं कह्यौ आगलि सुर असुरांह ।
तुरकां वांण भलावीया कीरति रांठोडांह ॥ ८

॥ अथ पीढी वार्ता ॥

§८. आदि प्रथ[म] ॐकार, ॐकार पुत्र व्रंमा, व्रह्मा पुत्र कासिब, पुत्र सूर्य, सूर्य पुत्र आत्रैय, पुत्र मनुऋष, पुत्र देवभूत, पुत्र आकूति, पुत्र प्रसूति, पुत्र प्रीयव्रत्ति, पुत्र अगनिध्वज, पुत्र नाभिराजा, मोरादे भार्या पुत्र रिषभदेव। रिषभदेव भार्या २—सुनंदा १, सुमंगला २। सुनंदा पुत्र ४९ वडो भरत, सुमंगला पुत्र ४९, वडो वाहुवल। एवं पुत्र ९८। २ पुत्र षोलै लीना—नमि १, विनमि २। एवं रिषभदेव पुत्र १०० हुवा।

भरतरा केडायत हींदु छत्तीस राजकुली, वाहुवलरो केड मसुलमांन हूवा। रिषभदेवसु दोय राह फांटा। अठातांई तो सूर्यवंसी राजा कहीजतां। भरत पुत्र सूर्यजिसा हुवो, तिण तो सूर्यनै मांन्यो, तरै सूर्य उपासी राजा हुवा। छत्तीस राजकुली मांनीजै छै। वाहुवल पुत्र सोमजिसा, तिण सोम चंद्रमानै मांन्यो। तिणरो केड सोमवंसी मुसलमांन कहीजै। चंद्रमानै मांनै छै। प्रथम राजथांन सुमेर पर्वत तलहटी, तठै सूर्यवंशनी थापना हुई। विनीता नांम नगर, नाभि राजा, रिष[भ]देव कवरपदे। तठै ईषागवंसनी थापना हुई।

*

[ BC में ऊपरवाला प्रकरण निम्न प्रकार लिखा हुआ है—

§८, A. प्रथम तो एक श्री ओंकार अंतरजामी १, अंतररो आदि २, रो[1] अनादि ३, रो[2] फेन ४, रो[3] अरबुद ५, रो[4] बुदबुदाकार ६, रो जल ७, रो कमल ८, रो राजा ब्रह्मा ९, रो कासिब १०, राजारो[5] सूर्य ११, रो राजा[6] विस्वसेन १२, रो उभै विस्वराजा १३, रो फरसरांम नेत्र १४, रो प्रथीनाथ राजा १५, रो अभिसूर राजा १६।

अभिसूर राजा एकण छत्र सगली प्रथवी भोगवी। प्रथम राजथांन सुमेर गिर पर्वतरी तलहटी देवकन्या नांमै नगर वसायो। तठै सूर्यवंशरी थापना हुई। सूर राजारो मारीच राजा १७, रो आत्रीय राजा १८, रो[7] प्रीयव्रत राजा

1 C आदिरो। 2 C अनादिरो। 3 C फेनरो। 4 C अरबुदरो। 5 C कासिवरो। 6 C सूर्यरो। 7 C आत्रीयरो।

१९, रो उतनपात राजा २०। उतनपात राजारै दोय पुत्र, एक तो ध्रुजी, दूसरो देवभूत राजा २१, रो प्रीयवर्त राजा २२, रो अभिचंद्र राजा २३, रो आकूति राजा २४, रो अगनिध्वज राजा २५, रो नाभिराजा २६।

नाभि राजारी भार्या मरुदेवा। मरुदेवा पुत्र रिषभदेव २७। कुंकणदेस कुंकुमा[1] नामा नगरी। तठै इषागवंसरी थापना हुई। श्रीरिषभदेवजीरे एक सो पुत्र हुवा। तिणमै ६४ तो ब्रांमण हुवा, ३६ छत्तीस क्षत्री हुवा। ]

*

§ ९. अठै रिषभदेवजी[2] षटवंसरी थापना कीधी[3]। सूर्यवंस १, सोमवंस २, कुसवंस ३, हरिवंस ४, शिववंस ५, दैत्यवंस ६। ए छ वंसरी थापना कीधी[4]। तिणमै छतीस राजकुली निकली। तिको छतीस राजकुलीरो माथासिरो कहै छै।

( BC ए छ वंस हुआ। एकण एकण वंसमांहिसुं छै छै वंस नीकल्या। तो अवै छतीस राजकुलीरो माथासिरो कहीनै बतावै छे। )

§ १०. कनवजगढे राठोड १, धारानगरी पमार २, नाडूलगढे चहुवांण ३, आहडगढे गहिलोत ४, साहलगढे दहीया ५, दुरंगगढे सांणेचा[5] ६, षोहरगढे काबा ७, रोहलगढे सोलंकी ८, मांडवगढे पैर ९, चीतोडगढे[6] मोरी १०, मांडलगढे निकुंभ ११, आसेरगढे टाक १२, षेड पाटण गोहल[7] १३, मंडोवरगढे पडिहार[8] १४, पाटणगढे चावडा १५, पावडगढे झाला १६, करणेचगढे बूर १७, कलहटगढे कालवा[9] १८, भूभलगढे जेठवा १९, नारंगगढे रोहड २०, लोहमे गढे[10] बूसा २१, वंभणवाडगढे वाहड २२, जायलवाडै[11] पीची २३, वसीगढे[12] षडवड २४, रोतासगढे डोडा २५, हरसचगढे[13] हरीयड २६, कापडवाणगढे डाभी २७, ढिलीगढे[14] तुअर २८, हथणावरगढे कोरड २९, तारागढे गोंड ३०, [15]मगरूपगढे मकवांणा ३१, जूंनैगढे जादव[16] ३२, षोहरगढे कछवाहा ३३, लोद्रवगढे भाटी ३४, जालोरगढे सोनिगरा ३५, आबूगढे देवडा ३६।

............

( BC ए छत्तीस वंसरी थापना हुई नै माथासिरो कहीनै वतायो। वळे रिषभदेवजीसु दोय राह चाल्या। रिषभदेव पुत्र भरथजी हुवा २८, भरथपुत्र सूर्यजिसा २९, तिण तो सूर्यनै मान्यो तिणरो केड सूर्य उपासीक हीदु

---

1 B कुकणदेस कुकमा नांम। 2 B में नहीं। 3 B कीवी। 4 C हुइ।
5 B सिणवार। 6 C चीत्रोडगढे। 7 B गढे गोहिल। 8 A पिडयार।
9 A कालवा। 10 C लामहगढे। 11 BC जायलगढे। 12 BC वसहीगढे।
13 BC दरमनगढे। 14 BC दिली। 15 BC मगरोप, मकरोप। 16 BC जुने गढे यादव।

छतीस राजकुली हुई । सुलटै राह चाल्या । रिषभदेवजीरै पुत्र बाहुवली हुवो । तिणरो सोमजिसा राजा हुवो, तिको सोम चंद्रमा कहीजै, तिको सोमजिसा राजा चंद्र उपासीक मुसलमांन हुवो । तिणरो केड मुसलमांन चंद्रमानै मांनै छै । उलटै राह चालै । ए दोय राह रिषभदेवजीसुं फाटा । )

† इण छतीस राजकुली माहे राठोड मुगटमणि, परभोम पंचायण, छतीस राजकुली सिणगार, प्रथवीरा थंभ † ।

॥ अथ पीढी ॥

§११. प्रथम राजा आदि, पुत्र भरत, पुत्र सूर्यजिसा, पुत्र ईषवाक । अठै इषागवंस थाप्यो । इषाग पुत्र समुद्र, पुत्र चंद्रमा, पुत्र बुध, पुत्र प्रनदैत्य, पुत्र विद्याधर १८, पुत्र मुचकुंद १९, पुत्र हिरणाकुस २०, पुत्र पहिलाद २१, पुत्र वैरोचन २२, पुत्र वलिराजा २३ । तिको चकवै हुवो, तिणरो –

॥ कवित्त ॥

३९. पद्म एक अंगरष्य पद्म दोय हय पाषरीया ।
पद्म तीन पायक पद्म दुय गैवर गुडीया ।
पद्म पंच धानुंष सवदवेधी नर निवै ।
पद्म आठ वाजित्र पद्म सात सुचर लवै ।
बलवंत सेन अति सबल सितर पद्म हुइ संचरै ।
बलिराव पयांणो संभली सुर मांनव विसहर डरै ॥ १

॥ दुहो ॥

४०. भली हुई जे न बली वैरोचन रै सथ ।
मो देषंतां मंडियो हरि बलि आगलि हथ ॥ १

वलिराजा, पुत्र वाणांसुर २५, पुत्र शृंगदैत्य २६, पुत्र राजा दक्ष २७, दक्ष पुत्र सैसार्जुन २८, पुत्र करूप २९, क० पुत्र उग्रसेन, पुत्र वांणसेन ३०, पुत्र सिज्यासेन ३१, पुत्र श्रीपुज ३२, पुत्र मांन राजा ३३, पुत्र नमुचि राजा ३४, पुत्र भरह राजा ३५, पुत्र अंधक राजा ३६, पुत्र मेघासुर राजा ३७, रो कपिलसेन राजा ३८, रो भद्रसेन राजा ३९, रो भीवसेन राजा ४०, इतरा राजा तो सतजुग मांहे हुवा ॥ इति सतजुग संपूर्णः ॥

---

†† BC में यह पंक्ति नहीं है ।

§ १२. अथ त्रेताजुग प्रमांण ८६४००० । तिण माहे तीन अवतार अवगति रूपी हुवा । वांमन अवतार १, परसा अवतार २, श्रीरांम अवतार ३ । तिण जुग मांहे २१ ताड प्रमांण देह हुई । दस हजार वर्षरो आउषो । त्रीया प्रसुत वार २। पुन्य विस्वा १५, पाप विस्वा ५। तिण जुग मांहे १ वार वावे ७ वार लुणै।

.........

[ ऊपर दी गई § ११ – § १२. कंडिकाओं के स्थान में BC में केवल निम्न-लिखित पंक्तियां मिलती हैं –

भरथ पुत्र सूर्यजिसा राजा हुवो २९, रो श्रियांस राजा ३०, रो समद्रसेन राजा ३१, रो चंद्रसेन राजा ३२, रो बुधसेन राजा ३३, रो प्रनदैत्य राजा ३४, रो रघु राजा ३५। गढ किलांणै राजथांन तठै रघुवंसरी थापना कीधी। रघु राजा ३५ रो विद्याधर राजा ३६, रो जलमेस्वर राजा । ]

.........

त्रेताजुग मांहे राठोडवंस हुवो तिणरी वार्त्ता ।

§ १३. राजा भीवसेन पुत्र मेघजल ४१, रो झलमलेस्वर राजा, तिण राजारै २ रांणी पिण पुत्र नही, देवी देवता घणा ही मनाया पिण पुत्र नही। इम चिंता करतां करतां केईक वरस वितीत हुवा तरै राजा श्रीपरमेस्वरजीरो ध्यांन करै, ध्यान करतां घणा वरस वीता तरै आकासवांणी हुई । श्रीपरमेस्वरजी गोतम रषेस्वरनु हुंकम कीधो। इसी उर्द्धवांणी सुणिनै राजा उठ्यो, प्रभाति हुवो तरै राजा वनषंडमै जाय, श्रीगोतम रषेस्वरजीनै तीन प्रक्रंमा देनै डंडोत कीयो, हाथ जोडिनै एकण पगवांणो उभो अस्तुति करै छै। तरै गोतम रषेस्वर आसीस दीनी नै राजानै पूछना कीधी–महाराजा! चिंतातुर नजर आवो छो। तरै महाराज हाथ जोडि गोतमजीसुं अरज कीधी–महाराज! पुत्र नही, धन माया हाथी घोडा देस मुलक कोठार भंडार अथिर छै, पुत्र विना राज काचो छै। तरै गोतमजी कह्यो–महाराज चिंता मती करो। जिग आरंभो, रिप तेडो। तरै राजा जिग आरंभ नै रिष तेडाया। तिका अठ्यासी हजार रषेस्वर आया, तेतीस कोडि देवता आया। राजा मनछा भोजन दे रषेस्वरांनै पोष्या, देवतांनै संतुष्ट कीया। तरै सारां ही मिलनै श्रीनारायणजीरो आवांन कीयो, मंत्र भणै छै। गोतमजी वोल्या–महाराज! ए गंगधारा कुंड छै, इण कुडमांसु आप झारी भरि ल्यावो। राजा घणी चतुराईसुं झारी भरि रषीस्वरांरै हाथ दीनी। तरै श्रीगोत[म]जी श्री परमेस्वरजीरा नांवरी कलवांणी करि दीनी,

जावो रांण्यांनै पावज्यो, महाराजरै पुत्र होसी। तरै राजाजी घरे पधारीया। उण राति राजाजी व्रतीक थ्या तिको सुषमै पोढ्या छै। आधी रातिरै समै महाराजनै त्रषा घणी व्यापी, तरै षवास कनासु जल मंगायो। तरै षवास असमझ थकै मंत्री झारी हाजर कीनी। तरै राजा निद्रालु थकै पांणी पीनो, वले पोढ रह्या। प्रभात हुवो तरै मंत्री झारी मंगाइ, रांणीयांनै पावा। षवास झारी हाजरि कीनी। देषै तो झारी षाली। तरै षवासनै पूछ्यो — पाणी कठै? तरै षवास कह्यो — महाराज! जीवरी अमां पावु तो अरज करु। तरै महाराज कह्यो — कहि; महाराज! आप पाणी मंगायो तरै मै अग्यांनी थकै झारी हाजर कीनी, तरै महाराज पांणी पीनो। इसी वात सांभलिनै महाराज दुचिता हुवा, घणै कष्ट पांणी पैदास कीधो थो तिको निरफल गयो। तरै महाराज उभरांणे पगे गोतमजीरा पगां गया। प्रणांम करि अरज कीधी — महाराज अग्यानपणै मंत्रीयौ पांणी षवास मोंनै पायो। तरै गोतमजी कह्यो — यद भाव्यं भविष्यंति, गर्भ निर्फल नही जाय। रिष वचन मिथ्या नही। महाराजनै गर्भ रह्यो। तरै राजा दुचितो होइनै घरे पधारिया। अवै दिन दिन गर्भ वधतो जाय। यु करतां मास ४ तथा वीता। तठै कामेस्वर देशनो धणी महीयासुर नांमा दैत्य जुध करणनै आयो। माहोमांहि घोर जुध हुवो, तठे राजा जलमलेस्वर कांम आयो। तरै मनोरमा रांणी काठ चढण लागी। तरै आपरी कुलदेवता सांमरादेवी आराधी। तरै देवी आई तरै अरज कीधी — महाराज तो रिणसेझ पोढ्या छै, राज मोटा छो, वंसरी सरम राजनै छै, पाछै पुत्र नही, वंसनै राज मिल्यां ही गयो। तरै देवी कह्यो — तु जमां षातर राष, रिषांरा वचन षाली न जाय। तरै सांमरादेवी राजारी देही कनै आइ। राठो फाडि नै टावर काढि नै उरो लीनो। तिणनै दैत्यरूपी कीनो। आकास सीस, पाताल पग, तिण बालकरो नांम राष्टेस्वर दीनो। अति बलवंत अति भयंकर, च्यार कुलदेवी सहाय हुई। समणादेवी सरीर लांबो कीयो १, सांमरादेवी सरीर हलवो कीयो २, रांमादेवी सरीर अभंग कीनो ३, तारादेवी सरीर तेजवंत कीयो ४। राठेसुर दैत्य उठि नै महीयासुर दैत्य लारै दोड्यो, जुध कीधो, समणादेवी साथि झुझी, दैत्यने मारि लीयो, राष्टेस्वर राजारी जैत हुई। तरै गोतम रषेस्वर राष्टेस्वरनै आसीरवचन कहै।

॥ श्लोक ॥

४१. भाले भाग्यकला मुखे ससिकला लिक्ष्मीकला नेत्रयो
दांने देवकला भुजे जयकला युद्धे प्रतिज्ञा कला।

**भोगे कोककला गुणे वयकला चिंतामणि समाकला**
**काव्ये कीर्तिकला तव प्रतिदिनं क्षोणीपती जायते ॥ १**

राष्ट्रेस्वर राजानै श्रीगोतम रषेस्वरजी आसीरवचन दीधो। देवी प्रसन होय नै राष्ट्रेस्वरनै राज दीधो। कनवज नांमा नैर वसायो नै कनकमै गढ करायो, नववारी नगरी वसी, चोरासी चोहटा कीधा, धन धांन्य सोनो रूपो कपडो घृत तेल सर्व वस्तरी वर्षा कीनी दिन ७ तांई। गोतम रषेस्वरजी नै सांमरादेवी कुलथापना कीधी। राष्ट्रेस्वर राजारो केड राठोड कहीजसी। राठो फाडिनै काढ्यो तरै राठोड नांम दीधो, तिणथ्यी राठोड कहांणा। राष्ट्रेस्वर राजा महाप्रतापीक हुवो। राष्ट्रेस्वर राजाथ्यी राठोड वंसरी थापना हुई।

राष्ट्रेस्वर राजारो पुत्र संग्रामसेन ४१, रो राजा कनकसेन ४२, रो राजा महाबल ४३, रो मकराक्ष ४४ रो मांनवंत ४५, रो कांमकोटि ४६, रो राजा महीपति ४७ महाप्रतापीक हुवो। कनवज पार्श्वे महोरगढ वसायो। कनवजमांसु नीकलै तिके कनवजीया राठोड कहीजै।

*

[ नोट– BC में ऊपरवाली जलमलेस्वरकी वार्ताकी शव्दरचना निम्न प्रकार मिलती है –

§ १३,A. अथ वार्ता – जलमेस्वर राजारै दोय रांणी, सुप्रभा १ नै चंद्रकांता २। तिणां देवी-देवता घणा ही आराध्या पिण पुत्र नही, तद राजा श्रीपरमेस्वरजीरी भक्ति आदरी। माया राजभंडार हाथी घोडा राजरिधि अथिर दीठी। इम भक्ति करतां केईक वर्ष वितीत हुवा। तद श्रीपरमेस्वरजी राजानै एकाग्रचितसु भक्ति करतो दीठो, तरै प्रसन होय श्रीगरुडजीनै हुकम कीयो – मांहरो भक्त राजा जलमेसर चितातुर छै, तिणनै जायनै धीरप द्यो। कहज्यो, मांहरा तपोवनरै विषै श्रीगौतम रषेस्वरजी आया छै, तिणांरै पगे लागिनै परिक्रमा देनै, वस्त्र पात्र अंन पांणी संतोषिनै चरणामृत लेज्यो, तरै रिष आसीस देसी, मनोवंछिना पूरण हुसी। इतरै गरुडजी राजा कनै आया। राजा उठिनै घणी प्रणपति कीधी। श्रीपरमेस्वरजी हुकम कीयो तिके समाचार राजानै कह्या। राजाजी घणा रजावंध हुवा, तरै गरुडजी तो अंतरध्यांन हुवा। प्रभाते राजा साथ सांमांन लेनै उभरणै पगे तपोवन जायनै श्रीगोतमजीरां पगां लागा, प्रक्रमा दीधी, डंडव्रत कीयो, हाथ जोडिनै सनमुख एकण पगवांणा उभा छै। तरै श्रीगोतम रषेस्वरजी आसीस दीधी।

॥ श्लोक ॥

४२. हिम ससिर वसंत ग्रीष्म वर्षा सुरेस्तु
स्वस्तन स्तपन वनांभो नेस गोक्षीर पानां ।
सुषम भुभव रायन त्वत् विषो जांति नासं
दिवस कमल लज्या सर्वरा रेण पंके ॥ १

इण भांति आसीस दीधी। राजानै पूछीयो आपनै किसी चिंता छै ? तरै महाराज हाथ जोडिनै अरज कीनी—महाराज! पुत्र नही आ चिंता छै। तरै गोतमजी कह्यो—चिंता मति करो, पुत्र श्रीपरमेस्वरजी देसी। तरै श्रीगोतमजी अठयासी सहस्र रषेश्वर बुलायनै जिग मंडायो, आवांन कीयो, तेतीस कोडि देवता आया, घणा मिष्टांन मेवा पकवांन फल फूल करिनै राजाजी रषेस्वरांनै तेतीसकोडि देवतांनै संतोष्या। तरै गौतमजी राजानै कह्यो—महाराज! ए गंगधारा कुंड छै, जिणमांसु आप जायनै घणी उजलाइसु झारी भरि ल्यावौ। तरै राजा झारी भरि रषेस्वरांनै आंणि सुंपी। तरै श्रीगोतमजी सर्व रषेस्वरां श्रीपरमेस्वरजीरा नांवरी कलवांणी करि दीनी। सारां रषेस्वरां आसीस दीनी—महाराज! रांणीयांनै झारी मांहिलो जल पावज्यो, आपरै पुत्र होसी। राजाजी सीष मांगनै डेरै पधार्या। राति पडि गई तरै महराज उण दिन व्रतीक था, तरै झारी लीयां जतनांसु महल जायनै पोढ रह्या। पांणी प्रभाते सूर्यरै उदय रांणीयांनै पावसां, इतरै आधी रातिरै समीयै राजाजी त्रिषावंत हुवा, तरै षवास कनै जल मांग्यो। तरै षवास अजांण थकै मंत्री झारी आंण हाजर कीनी। राजाजी निद्रालु थकां पांणी पीधो। प्रभात हुवो महाराज सिर पाव पहरिनै राय आंगण आया। तरै झारी मंगाई, षवास आंण दीधी, देषै तो झारी षाली। तरै षवासनै पूछीयो झारी मांहिलो पांणी कठै? तरै षवास अरज कीधी—महाराज! जीवरी अमां पाऊ। तरै महाराज हुकम कीयो—साच कही, महाराज! राजनै आधी रातिरी तिरषा लागी, महाराज जल मंगायो, तरै मै अजांण थकै आ झारी आंण हाजर कीवी, जल तो महाराज पीनो। इसी वात सांभलिनै महाराज दुचीता हुवा। घणा कष्टसुं पांणी पैदास कीनो थो। तरै ततकाल वले पाछा गोतमजीरां पगां आया। प्रणपति करिनै अरज कीनी—महाराज! मंत्रीयो पांणी षवास अग्यांनपणै मोनै पायो। तरै श्रीगोतमजी बोल्या—यदभाव्यं भविष्यंति। राजाजी रिषांरा वचन मिथ्या न हुवै। गर्भ तो राजानै रह्यो। तरै राजा निमस्कार करि सीष मांगिनै घरां

पधारीया। दिन दिन उदर वधतो जाय, थांनक विना मस्तरो सोच हुवो। इतरामै कांमेस्वर देशनो धणी महीयासुर नांमा दैत्य राजासु जुध करणनै आयो। महा रिणसंग्रांम घोर जुध हुवो। तरै जलमेस्वर राजा पूरां लोहां वाजिनै कांम आया। छ मासरो गर्भ पेट माहे छै। इतरे मनोरमा रांणी काष्ट चडतां कुलदेवता सांमरादेवी आराधी। महाराज रिणसेझ पोढीया छै तठै आया। मनोरम रांणी मातजीसु अरज कीनी—राज मोटा छौ, राज तो गयो पिण कुल ही विछेद जातो दीसै छै। तरै सांमरादेवी दीठो, राजारै पेट छ महीनांरो आधांन छै। तिको राठो फाडिनै टावर उरो लीयो नै मनोरमा राणीनै कह्यो—थे जमां पातरि राषिनै काष्ट चढो, आपरो कुल उजलो करो। म्हे इण वालकनै दैत्यरूपी करिनै वंस वधारसां। तरै रांणी सुप्रभा १, दूजी चंद्रकांता २ ऐ तो काष्ठ चढी। इतरामै सांमरादेवी वालनै दैत्यरूपी कीयो। महावलवंत अति भयंकर आकास सीस, पाताल पग, महा प्रथल सरीर कीधो। च्यार देवी सहाय हुई। सांमरादेवी सरीर लांबो कीयो १। रांमादेवी सरीर अभंग कीयो २। समणादेवी सरीर हलवो कीयो ३। तारादेवी सरीर तेजवंत कीयो ४। वालकनै गोतमजीरां पगां लगायो, तरै गोतमजी आसीस दीधी।

॥ काव्य ॥

४३. **भाले भाग्यकला मुखे ससिकला लक्ष्मीकला नेत्रयो**
**दांने देचकला भुजे जयकला वुद्धे प्रतिज्ञा कला।**
**भोगे कोककला गुणे वयकला चिंतामणि स्माकला**
**काव्ये कीर्तिकला तव प्रतिदिनं क्षोणीपति जायते** ॥ १

इसो आसीर्वचन देनै वालकरो नांम राष्टेस्वर दीधो। गोतमगोत्री थापना करि, राज्यतिलक करि, राष्टेस्वर राजानै विदा कीयो। तिके राष्टेस्वर राजा महीयासुर नांमा दैत्य लारै दोडिनै जाय पुहतौ, महीयासुरनै मारि लीयो। राष्टेस्वर राजारी जैत हुई। राष्टेस्वर राजा हुंती कुल राठोड कहांणा, तठा हुंती राठोड कहीजै छै ३८।

राष्टेस्वर राजा रो कनकसेन राजा ३९, तठा हुंती करणाट देस राजथांन हुवो। कनकसेन राजा महाप्रतापीक हुवो, विधांनीक राजा वडो धरमातमा हुवौ। तिको गयाजीरै कोठै पिंड भरांवणनै गया थ्या, पाछा वलतां थकां मारगमै भोमीया

उठ्या, भोमीयांसु लडाई कीनी । भोमियांनै मारि धरती सरद करि, आपरै नांमै कनवज सहर वसायो नै राजथांन बांध्यो । तठा हुंती कनवजीया राठोड कहांणा ।]

★

§१४. महीराजारो पुत्र सूरधांम ४८, रो नंदराजा ४९, रो कुंभराजा ५०, रो दिनपति राजा ५१, रो भागनंद राजा ५२, रो सुषानंद राजा ५३, सुषानेर वसायो, महाप्रतापीक हुवो । सुषानंद राजारो पुत्र उग्रनाभि ५४, रो धर्मध्वज ५५, रो मकरध्वज ५६, रो मृगनाभि ५७, रो अमृतकोटि ५८, रो अंबरीष ५९, रो द्रढरथ ६०, रो पुष्यकेत ६१, रो नैनसार ६२, रो रतनप्रभ ६३, रो इंद्रदेव ६४, रो विस्वभूषण ६५, रो सारसेन ६६, रो धरमसेन ६७, रो पदमसेन ६८, रो रुक्मांगध ६९, रो जयसेन ७०, रो विश्वसेन ७१, रो पुरसोतम ७२, रो कर्दंबसेन ७३, रो पुन्यसेन ७४, रो कोसंभ ७५, रो विजैसेन ७६, रो राजा सनकादिक ७७, महादेवजी आराध्या ।

सनकादिकरो राजा अक्रूर हुवो ७८ । तिणथी राठोडांरी अक्रूर साषा नीकली । साषारा धणी श्रीमहादेवजी हूवा ।

अक्रूर राजारो पुत्र बुधसेन राजा, तिण वधनावर वसायो, रो जससेन ८०, रो मांनध्वज ८१, रो अगनिभूति ८२, रो शिवभूत ८३, रो देवभूति ८४, रो भोजराजा ८५, रो मोलि राजा ८६, रो जितसत्रु राजा ८७, रो संभेरी राजा ८८, जिण सांभर सहर वसायो । संभेरी राजा पुत्र जसोधर ८९, रो गुणभद्र ९०, रो मनोरथ १००, रो मंनाकुथ १०१, रो श्रीवछ १०२, रो धरणीधर १०३, रो सिधारथ राजा १०४, रो पुरंदर राजा १०५ । तस्य—

॥ काव्यं ॥

**४४. श्रीमत् राष्ट्रवंसे नृपवरयसोराज्ञसिद्धार्थाभिधानो**
**भूपस्तस्यात्मजो भू नवलष्य तुरगा मेदनीयां बभूव ।**
**द्वात्रिंसलष्य जोधा सिसलष्यकरणो द्वंद्व देशां द्विराजा**
**भूमौ राज्यं चकार कनकमयद्युतिः नांम पोरंदरश्च ॥ १**

पुरंदर राजा पुत्र भोमपाल १०६, रो राजा गोपाल १०७ ।

[ BC में यह § १४ वीं कण्डिका निम्न प्रकार लिखी गई है—

कनकसेन राजारो विक्रमसेन राजा ४०, महाप्रतापीक नांमी राजा

हुवो । विक्रमसेनरो मचकुद[1] राजा ४९, रो हिरणाकुस[2] राजा ४२, रो पहलाद राजा ४३, रो वैरोचन राजा ४४ ।

॥ दूहो ॥

४५. वैरोचन तन वहरीयो विप्र छुडायें बाल ।
तिण पुन्यथी पुत्र पांमीयो बलिराजा विरदाल ॥

† वैरोचनरो वलि राजा ४५ । वलि राजा वडो चकवै हुवो † तिणरो —

॥ कवित्त ॥

४६. एक पद्म अंगणै पद्म दोय हैवर पाषरीया,
पांच पद्म पायक्क पद्म दोय गैवर जुडीया ।
सात पद्म धानंष सबद्वेधी नर निचै,
एक पद्म वाजित्र पद्म सित्तरि दल धवै ।
वलवंत सेन अतिघण सबल सब मिल एकठ संचरै ।
वलिराव पयांणो सांभली सुर मांनव विसहर डरै ॥ १

॥ दूहो ॥

४७. भली हुइ जे नही वली, वैरोचनर सथ[3] ।
सो देषंतां मंडीयो, हरि वलि आगलि हथ[4] ॥ १ ॥

वलि राजारो वांणासुर राजा ४६, रो शृंगदैत्य राजा ४७, रो अधोदक्ष[5] राजा ४८, रो सैसार्जन[6] राजा ४९, रो सहस्त्रावाहु राजा ५०, रो करूपराजा ५१, रो उग्रसेन राजा ५२, रो वांणसेन राजा ५३, रो सिज्यास राजा ५४, रो श्री मुंजराजा ५५, रो नमुचि राजा ५६, रो मांनराजा ५७ । मांनराजारो भरह राजा ५८, रो अंध्र राजा ५९, रो मेघासुर राजा ६०, रो कपिल राजा ६१, रो भद्र राजा ६२ ।

इतरा राजा राठोड वंसी सतयुग[7] माहे हुवा । वडा साकाधर प्रतापीक राजा हुवा ।

॥ इति सतयुग संपूर्ण ॥

---

1 C मचकुंद । 2 C हिरणांकुश । †–† यह पंक्ति C में नहीं हैं । 3 C सत्थ । 4 C आगल हत्थ । 5 C अपोदक्ष । 6 C सहसार्जन । 7 C सतजुग ।

अथ त्रेतायुग प्रमांण वर्ष १२०००००० लाष १६ हजार । तिण युग माहे तीन अवतार अवगतिरूपी हुवा । वांमन अवतार १, परसा अवतार २, श्री रामा अवतार ३ । तिण युगमाहे २१ ताड प्रमांण देहमांन, दस हजार वर्षरो आउषो, त्रिया पसूत वार २, पुन्य विस्वा १५, पाप विस्वा ५ । एक वार वावै सात वार लुणै । तिण जुगमाहे राठोडवंसी राजा कुण कुण हुवा ? ।

भद्रसेन राजारो संग्रांमसेन राजा ६२, रो महावल राजा ६३, रो मकराष्य[1] राजा ६४, रो मांनवंत राजा ६५, रो कांमकोट राजा ६६, रो महीपति राजा ६७ ।

महीपति राजा वडो प्रतापीक हुवो । कनवज पार्श्वे महोरगढ वसायो ।

महीपति राजा रो सूरधांम राजा ६८, रो नंद नांम राजा ६९, रो कुभ[2] राजा ७०, रो दिनपति राजा ७१, रो भागनंद राजा ७२, रो सुषानंद राजा ७३, रो उग्रनाभि राजा ७४, रो धरमध्वज राजा ७५, रो मृगनाभि राजा ७६, रो अमृतकोट राजा ७७ रो, अंवरीष राजा ७८, रो रिदयसेन राजा ७९, रो द्रढरथ राजा ८०, रो दिष्यकेत राजा ८१, रो नैनसार राजा ८२, रो रतनप्रभ राजा ८३, रो इंद्रदेव राजा ८४, रो विश्वभूषण राजा ८५, रो सारसेन राजा ८६, रो समर्द्धज[3] राजा ८७, रो पदमदेव राजा ८८, रो भूरदेव राजा ८९, रो रुषमांगध राजा ९०, रो जयसेन राजा ९१, रो विश्वसेन राजा ९२, रो पुरसोतम राजा ९३, रो कदंबसेन राजा ९४, रो पुनिवंत राजा ९५, रो कोसंभ[4] राजा ९६, रो विजयसेन राजा ९७, रो सनकादिक राजा ९८, रो अक्रूर राजा ९९ ।

अक्रूर राजा महाप्रतापीक हुवो । महादेवजी आराध्या तरै [सिवजी प्रसन होयने] छतीस देसरो राज दीधो । तिणथी राठोडांरी अक्रूर साषा कहांणी । साषारा धणी श्री महादेवजी हुवा । अक्रूर राजारो[5] बुद्धिसेन राजा । † तस्य –

॥ कीर्तिकाव्यं ॥

४८. श्रीमन्मालवमंडलेऽतिरुचिरे श्रीराष्ट्रकूटोद्भव
तत्रा भूधर बुद्धिसेननृपति र्वर्द्धनपुरो वासितं ।
जेनास्मिश्च पुरे कृता बहुनरो राज्ञा सखूहा सदा
स्वारीणां वनिताकटाक्षसहिते च्छिद्येदयन् नृपमस्तकान् ॥ १ ॥†

---

1 C मकर राक्ष । 2 C कुंभ । 3 C समूर्द्धज । 4 C कोसंवसेन राजा । 5 C अक्रूरसेन । † चिह्नाङ्कित पाठ C में नहीं है ।

। बुधिसेन राजा वधनावर[1] वसायो। बुधिसेन राजारो जससेन राजा १, रो मांनध्वज राजा २, रो अग्निभूत राजा ३, रो शिवभूत राजा ४, रो संभेरी राजा। जिण सांभर वसायो[2]। संभेरी राजारो जसोधर राजा ५, रो गुणभद्र राजा ६, रो मनोरथ राजा ७ रो मनांकुस राजा ८ रो श्री वछ राजा ९, रो धरणीधर राजा १०, रो सिधार्थ राजा ११ रो पुरंदर राजा १२। तस्य –

॥ कीर्तिकाव्यं* ॥

**४९. श्रीमत् राष्ट्रवंसे नृपवरयसो राज्ञ सिद्धार्थ विधानो,**
**भूपस्तस्यात्मजो नवलषतुरगा मेदनीया बभूव।**
**द्वात्रिंशत्लष्यजोधा सिसलषकरणो छंद्रदेसाधिराजा**
**भूमो राज्यं चकार कनकमयद्युतिः नाम पोरंदरश्च ॥ १**

॥ अथ पीढी वार्ता ॥

§ १५. कनवज पार्श्वे महोरगढ राज करता, तिण आपरो गुरुगोत्राचार वीसारयो, महापुन्यवंत तिण एक ब्रांमण देरासर पूजिवा भणी राष्यो, तिणनै घणां गांव सांसण दीना। ब्रांमणांरो वंस वधारयो। ब्रांमण घणा वध्या तरै राजा राजरो भार ब्रांमणांनै सूंप्यो। तरै राजतेज घटतो गयो नै ब्रांमणांरो तेज वध्यो। तरै राजानै द्रोह करिनै मारयो। ब्रांमणां महोरगढरो राज लीनो। धरतीरा धणी ब्रांमण हुवा। तरै राजारी रांणी कुवर कोकनंदनै ले नीकली, तिको वनषंडमांहि आषेटक करिनै आजी[व]का करै। आषेटक करतां महोरगढ पार्श्वे रणावास गांम षेडै आया, तरै ब्रांमणांनै षबरि हुई। आषेटक रमतां एकाकीनै कुट मारो ज्यु पित्री निरवंस जाय। तरै धावड्या विदा हुवा। एक वड नै पीपल भेलो रूष महामोटो वृक्ष, तिण उपरै पंपणी माता सांवली व्याई छै, इंडा ४ मेलीया छै। चेलरां कनै बैठी महुरगढ सांमो जोवै छै। इतरै धावड्या आवता दीठा नै मनमै विचारयो, राज तो गयो पिण वंस जाय छै। तरै पंषणी देवी पांष समारिनै उडी, तिको कोकनंद कवरनै पांपांमै लेनै वडवृक्ष उपरि आंणि बैठी।

॥ दूहो ॥

**५०. प्रोहित्त हुकम प्रयांण गढ द्रोहा छछोहा दिठ।**
**पंपणी पंप समारि परि राषे राज गरिठ ॥ १**

---

1 C वधनोर। 2 C सांभर वसाई। * चिह्नाङ्कित पाठ C प्रति में नहीं है।

इण समै गोतम रषेस्वर घणा रिष संघाते वडरै पैलै कांनै आण विश्रांम कीधो। तठै शुक्राचार्य पिण रषेस्वरां कनै आया। रषीस्वरनै शुक्राचार्य वैठा वात करै छै। इतरै चेलरां सांवली मातानै बूज्यो–'माताजी! चून तो ल्याया नही, भूषां मरां छां।' तरै माता वोली–'पुत्र! थे जांणो नही, आगै क्षत्रियां राज थो, अबै ब्रांमणांरो राज छै, तठै चूनरो सांसो।' तरै पूछ्यो–'माताजी! क्षत्री कठी गया।' तरै माताजी बोल्या–'राजपुत्र इण वडवृक्ष हेठै छै।' 'तो माताजी इणनै राज दीजै। राजा गोपालरो पुत्र कोकनंद छै।' इसी वांणी शुक्राचार्य सांभली, महाचतुरवेदा सर्व जीवांरी भाषामै समझै छै। तरै शुक्राचा[र्य] सर्व रषीस्वरांनै पूछ्यो–'महाराज! ए पंषी जाति देवीरूप कांई कहै छै।' तरै रषीस्वर कहै छै–'अयं पंषणी राज्यं दापयंति।' शुक्राचार्य रषीस्वरांरी आग्या पाय कोकनंद कनै आयनै कहण लागा–'अहो राठोडवंस कुलदीप महावलवंत गोपालपुत्र कोकनंद! तोनै पंषणी माता कांई कहै छै। महाराज! राज महोरगढना धणी होस्यो, धरती पाछी बाहुडसी, पंषणी माता राज दे छै।' तरै राजा कह्यो–'जो मोहरगढ मांहरै हाथ आवसी, तो रावला पग पूजसां, राठोडांरा गुर पूजनीक होसो नै पंषीणी माता मांहरा कुल गोतमैं दीहाडी छै। महोरगढरो राज पंषणी माता दिरावै तो राठोडवंस पंषणी माता पूजसी।' तरै पंषणी माता, शुक्राचार्य, रषीस्वरां वाचा दीधी–'थाहरी जैत होसी।' प्रभात हुवै महोरगढ जाय लागो। तरै कोकनंद राजा पंषणी मातारो हुकम ले शुक्राचार्यरा पग पूजि रिषीस्वरांरी दुवा लेनै महोरगढ जाय लागा। ब्रांमणांसु लडाई कीधी, ब्रांमण हारि छुटा, राजारी जैत हुई। महोरगढ हाथ आयो। तरै पंषणी माता गोत्र देवी थापी, शुक्राचार्य गुरु थाप्या, गोतम गोत्र थाप्यो। पंषणी माता लष्य हेम वतायो। व्रत २२०९९ फागुण वदि १४ राजा कोकनंद महोरगढ पायो। पंषणीरो दीधो राज छै, तठा पछै राठोडांरै पंषणी माता मांनीजै सांवली।

॥ अथ वार्ता ॥

कनवज पार्श्वे महोरगढ राज करै। तिण आपरा गुरु गोत्राचार विसारीया तिको महापुन्यवंत। तिन एक ब्रांमण देरासर पूजिवा भणी राष्यो। पूजा घणी चलाई। ग्रांम देस देतां गांव गांव ब्रांमण घणा वध्या [Cब्रांमण देसरा धणी हुवा] ब्रांमणांनै राजधानी सूपी। राजतेज घटतो गयो। ब्रांमणांरो तेज वध्यो।

व्रांमणां गोपाल राजानै मारिनै महोरगढ लीधो। राणी कोकनंद कवरनै लेनै छांनै नीकली। तिको आरण्य अटवीमांहि छांनी रहै, फल फूल खायनै आजीवका करै।

॥ दूहो ॥

**५१. पूरण वदन गोपाल नृप, मिले द्विजा भुज भार।**
**कोकनंद स्वच्छंदसु, मृगया रमत कुमार ॥ १**

[ BC में उपर्युक्त वर्णन की निम्न प्रकार वाक्य रचना मिलती है –

राजा गोपाल कनवज पार्श्वे महोरगढ राज करै। तिको आपरा गुरु गोत्राचार विसारिया, पिण तिको गोपाल महा पुन्यवंत। तिणै एक व्रांह्मणनें घर देहरासर पूजवा भणी राष्यो नें गांम गांम मांहे पूजा देहरां री घणी चलाई। फिर वांमणांने घणा गांव संप्या ओर आपरी राजधानी पिण वामणांनें सूपी। गांम देश देतां ब्राह्मण घणा वध्या। ]

॥ वार्ता ॥

गोपालवंसी कोकनंद कवर आषेटक रमतां मोहरगढरी पाषती रणवास गांम षेडै आया। तद व्रांमणां मचकूर कीयो–गोपालरो वेटो कोकनंद आषेटक रमतो मोहरगढरी पापती कोस १२ तथा १३ रणवास गांम षेडो छै तठै रहै छै। तिणनै घावडीया मेलिनै परो मरावो। इसो विचार करिनै घावड्या विदा कीया। इतरै सांवली चील माता, उण वनपंडमै वड नै पीपल भेलो रूप छै तिण उपरि सांवली माता ईडा मेलीया छै। पिण चूनरो तो कसालो घणो काढै छै। रूप वैठी चेलरांसु वात करै छै। इतरै[1] चेलरां माता सांवलीनै पूछीयो–'माजी भूपरो तो कसालो घणो, आजीवका तो निभै नही, भूषां मरां छां, चूण ल्यावो।' तरै पंखणी माता वोली–'वेटां! चून कठां हुंती ल्यावुं? धरती मै[2] पित्रीयां रो तो राज गयो, व्रांमण राज करै छै।' तरै चेलरां वूज्यो[3] –'माजी साहिव! पित्री कठै गया? तरै पंपणी माता कहै छै–'वेटां! इण महोरगढ गोपाल राजा राठोडवंसी राज करतो तिणनै व्रांमणां जहर देनै परो मार्यो। महोरगढ व्रांमणां लीधो। धरती मै सारै ही व्रांमण राज करै छै। चून कठां हुंती मिलै?' तरै चेलरां फेर पंपणी मातानै पूछीयो–'माताजी! गोपाल राजारै पुत्र छै क नही?' तरै माता पंपणी कहै–'वेटां!

1 C इतरा नें। 2 C धरती मांहे। 3 4 वले पूछ्यो।

एक नांनो कोकनंद कवर छै। तिको रांणी छांनै ले नीकली थी। तिको महोरगढरी पाषती रणवास गांव षेडै रहै छै। तिको आषेट करण[1] आहेडै रनमै फिरै छै। तिणनै मारणनै वासतै घावड्या विदा कीया छै। कोस १२ उपरि मांहरी निजरै आवै छै। कोकनंद कवरनैं मारसी।' तरै चेलरां कह्यो–'माजी! कोकनंद कवरनै बचावो नै राज दिरावो, तो, धरतीमै चूणरो सलूक हुवै।' तरै पंषणी माता पंष समारिनै उडी। तिको कोकनंद कवरनै पगांसुं उचाय पांषां विचै लेनै आपरै थांन ले आया। घावड्या वनषंड जोयनै परा गया[2]।

॥ दूहो ॥

५२. प्रोहित हुकम प्रयाण गढ, द्रोह जछोहा दीठ।
पंषणी पंष समारि करि,[3] राषे राज गरिठ॥ १

॥ वार्ता ॥

मरणंत कष्ट हुती उवारिनै रूष परि[4] वैठा छै।

॥ श्लोक ॥

५३. उदयंति दिस पूर्वा, भूपतीः षोडसा कला।
अस्ताचल गत सद्य, मेखला भानुमंडले॥ १[5]

॥ दूहो ॥

५४. तव तटि एक आरण्य विचि, रथ सथनां गजराज।
इत थै आए राज नृप, उत हुंतै रिषराज॥ १

इतरै मै वडरी पाषती श्रीगोतम रषेस्वर घणां रिष संघाते आंणि डेरा कीना छै। इतरै शुक्राचार्य पिण गोतमजीसु आंणि मिल्या। रषेस्वर वैठा ग्यांन चरचा करै छै। इतरै चेलरां माता पंषणीनै कह्यो–'माताजी! रषेस्वर पिण अठै आया छै, तिको गोपाल राजारा पुत्र कोकनंदनै[6] लगन जवाडिनै[7] राज दिरावो।' सर्व रिष पिण आंणि भेला हुवा छै। शुक्राचार्य महा चतुर सर्व जीवांरी भाषामै समझै छै। तरै शुक्राचार्य श्रीगोतम रषेस्वरनै पूछीयो–'महाराज! ए पंषी जीव किसी भाषा बोलै छै?' तरै गोतमजी कह्यो–'ए पंषी युं कहै छै, नृप गोपाल पुत्र कोकनंदनै राज दिरावो।' सांवली मातांरी भाषा सांभलि रषेस्वरांरी आग्या

1 C आषेटक रमतो। 2 C पाछा परा गया। 3 C समारिकै। 4 C ऊपरा।
5 C यह श्लोक नहीं है। 6 C भले लगन 7 C। जोंवाडीने।

पाय शुक्राचार्य कहण लागा—'अहो राठोडवंस गोपालसुतन! रूपसु हेठा उतरो, थांनै माता पंपणी राज दिरावै छै। कोकनंद हेठो ऊतरिनै शुक्राचार्यरां पगां लागा, नै प्रक्रंमा देनै अरज कीवी—'महाराज! पंपणी माता राज दिरावै छै, नै आप पिण महरवांनी करिनै दिरावो छो, तो मांनै मोटो कीयो नै हुं आपरो नै माता पंखणी रो दास हुस्यु। आज पछै मांहरा राठोडवंसमै माता पंपणी पूजसी, राज मांहरा वंसमै पूजनीक गुरु होस्यो। इतरो धरतीमै राठोड वधसी, तिको माता पंपणी कुलदेवी करि मांनसी।' तरै शुक्राचार्य सपरो लगन महोरत जोय, श्रीगोतमजी सर्व रिषां समष्ये राजतिलक कीयो। आसिका देनै विदा कीया—'जावो महोरगढ ल्यो। महाराजरी फते हुसी।' तरै कोकनंद माता पंपणीरां पगां लागिनै, रिषेस्वरांरै पगे लागिनै, महोरगढ जाय लागो। व्रांमणांसु लडाई हुई। व्रांमण नाठा। राजा कोकनंदरी फते हुई, महोरगढ लीधो। तथा पछै पंछणी माता, गुरु शुक्राचार्य राठोडवंसमै पूजनीक छै। फागण वदि १४ शुक्रवार राजा कोकनंद महोरगढ पायो।

*

§ १६. कोकनंद राजारो पुत्र चिंतामणि १०७, रो प्रथीनाथ १०८, रो तेजभृंगाक्ष १०९, रो सिषरधूम ११०, रो विसवंध १११, रो क्षितनाथ ११२, रो तेजपाल ११३, रो रंगधांम ११४, रो वलभीम ११५, रो सुरपति ११६, रो रतनसेपर ११७, रो गुणसेपर ११८, रो महादैत्य ११९, रो चंद्रादैत्य १२०, रो कुवेर १२१, रो कुंथराजा १२२, रो मथुराजा १२३, रो हिरणाक्ष राजा १२४, रो पलवाक्ष राजा १२५, रो भावदेव राजा १२६, रो इंद्रादैत्य राजा १२७, रो मेरुद्युति राजा १२८, रो मेघध्वज राजा १२९, रो मांनादैत्य राजा १३०, जिण चहुंवांणवंसी राजा गोविंद, तिणनै मारिनै दिली लीधी। मांनादैत्यरो राजा जोवनास १३१, रो राजा मांनधाता १३२। मांनधाता मेडतो वसायो। षट षंड भोक्ता चक्रवै हुवो।

॥ कवित्त ॥

५५. वीस नील गय गुडीय पदम दस गयवर सझे,
पांच नील वाजित्र गुहिर सुर अंवर गजे।
तीन कोडि चलचलंत सूर फरके धानंषह,
पयदल अडव ज च्यार तास नह लाभै अंतह।

च्यार राज मिल संचरै सुर नर नाग मनि संकवै ।
चलचलंत प्रथी है कंप हुय चढै मांनधाता चकवै ॥ १

५६. नगरी जोजन वीस पिण वसै अनंतस,
द्वादश तस बाजार वसै चकवै दिक्षण दिस ।
सरवर दस सपत अठसै कूप वषांणू,
विमल वाव पंचसै नीर निरमल करि जांणू ।
दिन प्रति गुडी ऊछलै सदाणंद आणंद वै,
कुकमै नर नित भोगवै मांनधाता तिहां चकवै ॥ २

॥ वार्त्ता ॥

§ १७. ॐकारेश्वर महादेवरी थापना कीधी । तिहांथी मांनधाता तीर्थ कहांणो । मांनधाता पुत्र मुचकंद १३३, रो अजयाणंद राजा १३४, रो सूर राजा । जिणसूं धारनगरीरै धणी सिघलपति राजा पमार धरतीरै वेध सूर राजासू जुध कीधो । राजा सूर काम आयो । तरे कनवज भागी नै सूनी हुई । महोरगढनै कनवज पमांरा लीधी ।

सूर राजारो पुत्र कनकसेन राजानै अगस्त रिषेस्वर तिष्यनांमा षडग दीधो–थारी जैत होसी, महोरगढ नै कनवज हाथ आवसी इसी वाचा दीनी । तरै अगस्तजीरो हुकम ले नै कनवज जाय लागो, सांहोमाही जुध हूवो । सिघलपति राजानै मारि लीयो । तरै पमार भागा तिको लार कीनी थेठ धारनगर तांई मारांणा । धारनगरी राजा कनकसेन लीनी । पमार मार्‌या, अमल वैसांण नै पाछो कनवज आय नै कनवज वसाई ।

कनकसेन राजारो १३५, रो धजराजा १३६, रो कमधज राजा १३७ महाप्रतापीक हुवो ।

अथर्ववेदरै अभ्यासै शुक्राचार्य नवग्रहानकूल करणापित मंत्रसाधना करी, श्रीमहादेवजी आराध्या । राजा कमधजनै राज दीनो । थिर लगनमाहे कमधजवंसरी थापना कीधी । गोतम गोत्ररी थापना । मरहटदेस, सूरपालदेस, कुकमानगरी मांहि थापना कीधी । फटिकमै मंदिर, स्वर्णमै गढ करायो । छत्र, चामर, नीसांण, कुकमानगररो राज दीधो । कांगरु देसनो राजा मार्‌यो । लक्ष हाथी, नवलक्ष अश्व

पायगा हुई । अनेक विरुद् विराजमान राठोड कमधजवंसरी थापना कीधी। तठा हुंती राठोड कमधज कहांणा नै पंपणीमाता कुल देवता ।

कमधज राजारो परधांम राजा १३८, रो रंगध्वज राजा १३९ । रंगध्वज राजा दिली लीधी । जसराज तुअरनै मार्यो, दिली राठोडां लीधी। कनवजपुर पासि डाभिलपुर वसायो, राजा महाप्रतापीक हुवो ।

रंगध्वज राजारो पुत्र रतनध्वज राजा १४०, रो केसव राजा १४१, रो करणाट राजा १४२, रो दंतवाट राजा १४३, रो भावदेव राजा १४४, रो सांमसूर राजा १४५, रो आणंददेव राजा १४६, रो सहस्राभ्रम राजा १४७, रो सुदर्शन राजा १४८, रो त्रिकंस राजा १४९, रो हरचंद राजा १५०, रो रोहितास राजा १५१, रो धुसंधराजा १५२, रो भरथराजा १५३, रो सगरराजा १५४, रो असमंजित राजा १५५, रो असमांन राजा १५६, रो दिलीपराजा १५७, रो भागीरथ राजा १५८, रो काकुस्त राजा १५९, रो रघु राजा १६०, रो किलमपात राजा १६१, रो स्वांपल राजा १६२, रो मयंगन राजा १६३, रो वरण राजा १६४, रो सिद्धार्थ राजा १६५, रो मनप्रछक राजा १६६, रो अंबरीप राजा १६७, रो पुफेंद्र राजा १६८, रो दुदभि राजा १६९, रो जजात राजा १७०, रो नभग राजा १७१, रो अज राजा १७२ जिण अयोध्यानगर वसायो। अज राजारो पुत्र राजा दसरथ १७३ । दसरथ पुत्र ४, राजा रांमचंद्र १, लछमण २, भरत ३, सत्रुघन ४. इतरा राजा राठोड-वंसी त्रेतायुग माहे हुवा । वडा साकाधर राजा हुवा ।

॥ इति त्रेताजुग संपूर्णः ॥

§ १८. अथ द्वापुरजुग प्रवेश ८६४००० वर्ष प्रमांण। तिण जुगमाहे कृष्णा अवतार १, वुधा अवतार २, ए दोय अवतार अवगतिरूपी हुवा। मनक्ष देह सात ताड प्रमांण। आयुर्वल वर्ष १ हजार, त्रीया प्रकृति वार ३, पुन्य विस्वा १०, पाप विस्वा १०, एक वार न्हावे, तीन वार लुणै। तिण जुगमाहे राठोड राजा श्री रांमचंद्रजी पुत्र २, लिव, कुस २. लिवरा राठोड नै सीसोदीया, कुसरा कछवाहा। लिवपुत्र राजा कमल १७५ । कमल राजारो अष्टवल राजा १७६, रो सनतकुमार राजा १७७, रो विक्रम राजा १७८, रो रुपमागद राजा १७९, रो श्रीवछ राजा १८०, रो नंद राजा १८१, रो नलघोप राजा १८२, रो अश्वद्धज राजा १८३ ।

अश्वद्धज महाप्रतापीक हुवो। जिण चीतोडरो धणी राजा कमलसूर गहिलोत

तिण सु जुध कीयो। कमलसूर गहिलोत षेत पडयो। चीतोडगढ राठोडां लीधी।

अश्वद्धज पुत्र भूरदेव राजा १८४, रो गंभीर राजा १८५, रो संबर राजा १८६, रो नलजोति राजा १८७, रो सूरपाल राजा १८८, रो जगदीपक राजा १८९ रो कुंभ राजा १९०, रो अनंगसेन राजा १९१, रो लषेस राजा १९१, रो लघु राजा १९२, रो भारथसेन राजा १९३, रो नंदभार राजा १९४, रो धीरसीह राजा १९५, रो देवकमल राजा १९६, रो अंतत्रिश राजा १९७, रो नराद्धिप १९८, रो कर्णसेन राजा १९९, रो रांमसेन राजा २००, रो जयदत राजा २०१, रो शिवदत राजा २०२, रो मयूरसेन राजा २०३। तस्य –

॥ कीर्तिकाव्य ॥

८७. **श्रीमद्वैराष्ट्रदेसे तिलकपुरवरे पत्तने भूनरेसो**
**द्वात्रिंसद्भूमिपाला मणिमुगटधरा यस्य सेवामकार्षीः।**
**यत्नास्वाज्ञा नृपाणां ममनत सदा चान्यदेसाधिपानां**
**सर्वेषां भूपतीनां सुरमुगटसमो मयूरसेनाविधानो** ॥ १ ॥

मयूरसेन पुत्र राजा ध्रुवसेन २०४, रो श्रीकंठ राजा २०५, रो धनजय राजा २०६, रो नरदेव राजा २०७, रो, प्रजापति राजा २०८, रो हरषेण राजा २०९, रो जयसेन राजा २१०, रो त्रंमसेन राजा २११, रो धृतराष्ट्र राजा २१२, रो सूरदेव राजा २१३। तस्य–

॥ कीर्तिश्लोकः ॥

८८. **श्रीराष्ट्रवंसे तु करीटतुल्या भूपाधिपा कंकर्णस्य नाथो।**
**राज्ञ परोज्ञ श्रीसूरदेवो भूम्यां भवतु सूरसमांनतेजो** ॥ १ ॥

सूरदेव राजारो पुत्र परतन राजा २१४, रो कादंव राजा २१५, रो उनमथ राजा २१६, रो जनकीर्ति राजा २१७, रो जगदीस्वर राजा २१८, रो प्रथीपाल राजा २१९, रो महीपाल राजा २२०, गोवर्द्धन राजा २२१, रो माथुर राजा २२२, रो हिरणकस्प राजा २२३, रो जालंधर राजा, २२४, रो धनजय राजा २२५, रो कमनीय राजा २२६, रो मालवेस राजा २२७, रो भीमसेन राजा २२८। तस्य –

॥ कीर्तिश्लोकः ॥

५९. उजेन्यां मालवदेसे भीमसेनं भवे नृप ।
सुनासीरसमां भोजा राष्ट्रवंसे प्रदीपक ॥ १ ॥

भीमसेन राजारो श्री हंस राजा २२९, रो मुकंददेव राजा २३०, रो मदभ्रंम राजा २३१, रो करवीर राजा २३२, रो विदुप राजा २३३, रो पवनंजय राजा २३४, रो महावल राजा २३५, रो चंडप्रद्योतन राजा २३६ मोटो साकाधर राजा हुवो उजेणी राजथांन । चंडप्रद्योतनरो चंद्रगुप्त राजा २३७, रो विस्वसेन राजा २३८, रो धरमरथ राजा २३९, रो धूम्रदैत्य राजा २४०, रो पसेनध्वज राजा २४१, रो मांनराजा २४२, रो मुकंदसेन राजा २४३, रो मदनसेन राजा २४४, रो गोवर्द्धन राजा २४५, रो विशालापति राजा २४६, रो सुमंगल राजा २४७, रो कंदर्प्पसेन राजा २४८, रो लोहिताक्ष २४९, रो नील राजा २५०, रो नलकूवर राजा २५१, रो मृगांक राजा २५२, रो काशीनाथ राजा २५३, रो कपिलसेन राजा २५४, रो कर्ण राजा । तस्य –

॥ कीर्तिश्लोकः ॥

६०. श्रीराष्ट्रवंसे नृपे जातो पार्थिवे पार्थिवो नर ।
हेमकांत महादांनी न भूतो न भविष्यति ॥ १ ॥

वडो दांनीस्वरी हुवो, सवाभार सोनो दान देतो । राजा कर्णरो पोहर वाजै । कर्णपुत्र सोमेस्वर राजा २५६, रो दुरजोधन राजा २५७ । दुरजोधनरो जव राजा २५७, रो चित्रांगद राजा २५८, रो चित्रबाहु राजा २५९, रो जनमेजय राजा २६०, रो सहस्रानीक राजा २६१, रो सहस्रावाहु राजा २६२, रो हरिचंद्र राजा २६३, रो वेणीवछ राजा २६४, रो तरीवाह राजा २६५, रो चक्रधारी राजा २६६, रो धांनप राजा २६७, रो सिधार्थ राजा २६८, रो नंदवर्द्धन राजा २६९, रो सनतकुमार राजा २७०, रो कमोद राजा २७१ । इतरा राजा राठोड वंसी द्वापुरजुगमाहे हुवा । पंपणीमाता सरणागती । इति द्वापुरजुग संपूर्ण ॥

[ BC में ऊपरवाला वर्णन निम्न रूप में लिखा गया है –

§ १९. राजा कोकनंदरो राजा चिंतामणि १६, रो व्रजनाथ राजा १७, रो तेज-भृंग राजा १८, रो कृत व्रंह्म राजा १९, रो सिषरध्वज राजा २०, रो विसवंध राजा २१, रो क्षितनाथ राजा २२, रो तेजपाल राजा २३, रो रंगधांम राजा २४, रो

वालसोभ राजा २५, रो सुरपति राजा २६, रो रतनसेप राजा २७, रो गुणसेषर राजा २८, रो महादैत्य राजा २९, रो चंद्रादैत्य राजा ३०, रो भावदेव राजा ३१, रो इंद्रादैत्य राजा ३२, रो कुवेर राजा ३३, रो कुंथ राजा ३४, रो हिरणाक्ष राजा ३५, रो पलवाक्ष राजा ३६, रो मेरध्वति राजा ३७, रो मेरध्वज राजा ३८।

चहुवांणवंसी राजा गोविंद दिलीरो धणी धरतीरै आंटै मेरध्वज राजासु लडाई कीधी। मेरध्वज राजा कांम आयो।

मेरध्वज राजारो मांनादैत्य राजा ३९, जिण वापरो वैर लीधो। गोविंद राजानै मारि दिली राठोड मांनादैत्य राजा लीधी। महा सुदि १० पाट वैठो।

मांनादैत्यरो राजा जोवनास ४०, रो राजा मांनधाता ४१। मांनधाता मेडतो वसायौ। चकवै हुवो।

॥ कवित्त ॥

६१. चकवै मांन नरिंद भोगवै लोक तिडोत्तरि,
बार वरसे वरनारि पद्म द्वादश मिल पषर।
हसती पद्म सपत ओटगिण पद्म चिडोत्तर,
वीस अरब वाजित्र धनुंष धरि अरब बहोत्तरि।
नरनरिंद नरपती महाजोध जोधार नर।
फेरवै आंण चिहु चकमै इसो मांनधाता कुंतधर ॥ १ ॥

६२. वीस नील गय गुडीय पद्म दस गैवर सझे,
पांच नील वाजित्र गुहिर सुर अंबर गजे।
तीन कोडि चल चलंत सूर फरके धानंषह,
लूटंबर वरवांन तास नह लाभै अंतह।
च्यार राज मिल संचरै सुर नर नाग मन संकवै।
चलचलात पृथ्वी है कंप हुइ चढै मांनधाता चकवै ॥ २ ॥

६३. नगरी जोजन वीस वास पिण वसै अनंतस,
द्वादस सत बाजार वसै चकवै दिक्षण दिस।
सरवर दस सपत अष्टसै कूप वषांणु,
विमल वाव पांचसै निरमल नीर करि जांणुं।

दिन प्रत गुडीय उछलै सदानंद आणंद वै ।
कुंकमै नैर[1] नित भोगवै मांनधाता तिहां चकवै ॥ ३ ॥

§ २०. वार्ता – ऊँकारेस्वर महादेवरी थापना कीधी । तठाथी मांनधाता तीर्थ कहांणो । २३५ वर्ष राज्य पाल्यो । मांनधाता राजारो मचकुंद राजा ४२, रो चत्रवाह राजा ४३, रो अजयाणंद राजा ४४, रो धरधज राजा ४५, रो कमधज राजा ४६ ।

§ २१. वार्ता – कमधज राजा महाप्रतापीक राजा हुवो। अथर्वणवेदरै अभ्यासै शुक्राचार्य नवग्रह सानकूल करगापित अगनिसुं होम करि मंत्र साधना कीवी । श्रीमहादेवजी आराध्या । राजा कमधजनै राज दीयो । थिर लगनमाहे कमधज-वंसरी थापना कीधी । गोतम गोत्ररी थापना कीवी । मरहठ देस सूरपाल नांम नगरीमांहि थापना कीवी । फटिकरतनमै स्वर्णमै गढ करायो । छत्र, चांमर, नीसांण, कुकमानगररो राज दीधो । पंषणी मातारा प्रतापथी कांगरु देसरो राजा मार्यो । लक्ष हाथी मदोनमत्त, नव लष्य अस्त्र पायगा हुई । अनेक विरद विरा-जमांन राठोड कमधजवंसरी थापना कीधी । तठा पछै राठोड कमधज कहांणा । राजा कमधजरो पर धांम राजा ४७ रो रंगध्वज राजा ४८ ।

रंगध्वज राजा जसराज तुअर दिलीरो धणी, तिणनै मारि दिली राठोडां लीधी । कनवज पासि डाभिलपुर वसायो । रंगध्वज राजा महाप्रतापीक हुवो ।

रंगध्वज राजारो राजा रतनध्वज ४९, रो राजा केसव ५०, रो भावदेव राजा ५१, रो सांमसूर राजा ५२, रो आणंददेव राजा ४९, रो सहस्राभ्रंम राजा ५०, रो मदभ्रंम राजा ५१, रो धर्म राजा ५२, रो धुधमार राजा ५३, रो अंगराज राजा ५४, रो पुफक राजा ५५, रो अतिविक्रम राजा, ५६, रो त्रिसंक राजा ५७, रो हरचंद राजा ५८, रो रोहितास राजा ५९, रो असमजित राजा ६०, रो असमांन राजा ६१, रो धरमागद राजा ६२, रो रुषमागद राजा ६३, रो संतांन राजा ६४, रो सगर राजा ६५, रो दिलीप राजा ६६, रो भागीरथ राजा ६७, रो पुफेंद्र राजा ६८, रो दुदभि राजा ६९, रो जजात राजा ७०, रो नभग राजा ७१, रो अज राजा ७२, रो दसरथ राजा ७३, रो श्रीठाकुर श्रीराम-चंद्रजी, लछमणजी, भरतजी, सत्रुघन। इतरा राजा श्रीराठोडवंसी त्रेतायुगमाहे हुवा । वडा साकाधर राजा हुवा । इति त्रेतायुग संपूर्ण ।

1 C कुंकमनयर ।

§ २२. अथ द्वापरयुग प्रवेस वर्षः ८ लाप ६४ हजार द्वापरयुग प्रमांण। तिण युगमाहे अवगतिरूपी दोय अवतार हुवा। कृष्णावतार १, वुधावतार २। मनुष्य देहमांन सात ताड प्रमांण, आयुर्वल वरष एक हजार, त्रीया प्रसूत वार ३, पुन्य विस्वा १०, पाप विस्वा १०। एक वार वावै च्यार वार लुणै।

तिण युगमाहे राठोडवंसी राजा कितरा हुआ तिके कहै छै।

दसरथपुत्र श्रीरांमचंद्रजी पुत्र राजा लिव[1] ७५, नै कुस २, दोय पुत्र श्रीरांमचंद्रजीरै हुवा। लिवरा केडायत तो राठोड नै सीसोदीया। कुसरा पगरा[2] कछवाहा [हुवा]। लिवजी पुत्र राजा जल ७६। जल राजारो कमल राजा ७८, रो अष्टवल राजा ७९, रो सनतकुमार राजा ८०, वरनंद राजा ८१, रो अश्वध्वज राजा ८२ महाप्रतापीक हुवो।

चीतोडगढरो धणी कमलसूर राजा। तिणसुं अस्वध्वज राजा जुध कीयो। कमलसूर षेत पड्यो। चीतोडगढ राठोडां लीधी।

अस्वध्वज राजारो सनक राजा ८३, रो सुषानंद राजा ८४, रो गंभीर राजा ८५, रो संवरसेन राजा ८६, रो नलजोति राजा ८७, रो नलघोष राजा ८८ महाप्रतापीक हुवो।

धारानगरीरो धणी सीमपाल राजा धरतीरा विरोधथी जुध कीधो। पमार राजा कांम आयो। नलघोष राजारी जैत हुई। धारनगरी राठोडां लीधी।

राजा नलघोषरो षेमपाल राजा ८९, रो सूरपाल राजा ९०, रो जगदीपक राजा ९१, रो अनंगसेन राजा ९२, रो जलषेम राजा ९३, रो लघु राजा ९४, रो भारथसेन राजा ९५। जिण सिघलपति पमार राजासुं जुध कीयो। भारथसेन राजा षेत पड्यो। श्रीरांम समयात संवत ११५५ फागण सुदि ११। कनवज भागी। भारथसेनरो भारनंद राजा ९६, रो देवकमल राजा ९७, रो अतित्रिष राजा ९८, रो नंद राजा ९९, रो करणसेन राजा २००, रो रांमसेन राजा १, रो जयदत्त राजा २, रो शिवदत्त राजा ३, रो मयुरसेन राजा ४। तस्य –

॥ कीर्तिकाव्यम् ॥

**६४. श्रीमद्वैराष्ट्रदेसे तिलकपुरवरे पत्तने भूनरेसो,**
**द्वात्रिंशद्भूमिपाला मणिमुकुटधरा यस्य सेवामकार्षीत्।**

---

1 C लव। C केडायत।

यत्नास्याज्ञा नृपाणं मम तन सदा चान्यदेसाधिपानां
सर्वेषां भूपतीनां सुरमुगटसमो मयुंरसेनाविधानो ॥ १ ॥†

मयुंरसेन राजा पुत्र भ्रावड राजा ५, रो श्रीकंठ राजा ६, रो धनजय राजा ७, रो नरदेव राजा ८, रो कमनीय राजा ९, रो प्रजापति राजा १०, रो हरषेण[1] राजा ११, रो वारषेण[2] राजा १२, रो व्रंमसेन राजा १३, रो ध्रितराष्टर राजा १४, रो सूरदेव राजा १५ । तस्य –

॥ कीर्तिश्लोक ॥

६५. श्रीराष्ट्रे वंसेत् करीट तुल्या भूपाधिपा कंकर्ण सनाथो ।
राज्ञ परोज्ञ श्रीसूरदेवो भूम्यां भवस्तु सूरसमांनतेजो ॥

*सूरदेव राजारो परतन राजा १६, रो कादंव राजा १७, रो उनमथ राजा १८, रो जनकीर्ति राजा १९, रो जंगलेस्वर राजा २०, रो प्रथीपाल राजा २१, रो गोवर्धन राजा २२, रो माथुर राजा २३, रो हिरणकेस राजा २४, रो जालंधर राजा २५, रो धनजय राजा २६, रो मालवेस राजा २७, रो भीमसेन राजा २८ । तस्य –

॥ कीर्तिश्लोक ॥

६६. उजेन्यां मालवे देसे भीमसेन भवे नृप ।
सुनासीरसमो भोज राष्ट्रवंसे प्रदीपक ॥ १ ॥*

भीमसेन राजारो श्री हंस राजा २९, रो मुकुंददेव राजा ३०, रो कुभ राजा ३१, रो करवीर राजा ३२, रो विदुप राजा ३३, रो पवनंजय राजा ३४, रो चंडप्रद्योतन राजा ३६, रो चंद्रगुप्त राजा ३७, रो विस्वसेन राजा ३८, रो धरमणिरथ राजा ३९, रो सरदैत्य राजा ४०, रो प्रसेनध्वज राजा ४१, रो मांन राजा ४२, रो विस्वभूति राजा ४३, रो सुमंगल राजा ४४, रो कंदर्प्पसेन राजा ४५, रो लोहिताक्ष राजा ४६, रो नील राजा ४७, रो मृगांक राजा ४८, रो कासीनाथ राजा ४९, रो कपिलसेन राजा ५०, रो करण राजा ५१ । तस्य –

---

†–† चिह्नाङ्कित पाठ C में नहीं है । 1 C हरिषेण । 2 C वारिषेण ।
*–* चिह्नाङ्कित पाठ C प्रति में नहीं है ।

॥ कीर्तिश्लोक ॥

६७. श्रीराष्ट्रवंसान्वये जातो पार्थिवो पार्थिवेस्वर।
हेमकांत महादांनी कर्णो भूत कर्णसदृस ॥ १

कर्ण राजा रो सोम राजा ५२, रो जव राजा ५३, रो मांन राजा ५४, रो संतांनीक राजा ५५, रो चित्रांगद राजा ५६, रो चित्रबाहु राजा ५७, रो पांडव राजा ५८, रो अर्जन राजा ५९, रो अहिवन राजा ६०, रो परीक्षित राजा ६१, रो जनमैजय राजा ६२, रो संतांनिक राजा ६३, रो सहस्त्रनोक राजा ६४, रो सहस्राबाहु राजा ६५, रो हरीचंद्र राजा ६६, रो वेणीवछ राजा ६७, रो तारीवाह राजा ६८, रो चक्रधारी राजा ६९, रो धानंष राजा ७०, रो सनत-कुमार राजा ७१, रो ककुंद राजा ७२, रो मुकंदमणि राजा ७३।

इतरा राजा तो राठोडवंसी द्वापर युग माहे हुवा। वडा साकाधर राजा हुवा।

॥ इति द्वापर युग संपूर्ण ॥

२२ A) अथ कलिजुग प्रवेस ४३२००० वर्ष प्रमांण। ताड १ प्रमांण काया ऊंची। आयुर्वल ११० वरसरी। त्रीया प्रसूत वार २१। धरम विस्वा १॥, पाप विस्वा १८, सत विस्वो ०॥, एकवार वावे करमा-धरमी नीपजै। सर्वजन धूरत। षटदरसण लोपी। त्रीया-लंपट। चोर प्रबल। मलेछ राजा। राजा निरबल। पिता पुत्र न मांन्यते। राजा पापी, नीच-संगी। लाषां माहे १ दातार। तुरतदांन कुपात्रे। पात्रे तो कण दांन, कुपात्रे मण दान। षटदरसण दुषी। तर पापे पाप समोसमा। इम अनेक कलजुगरा चरत्र छै। समै समै अनंती हांण। धरती रस सोषंत। दिल माफक बरकत। इसो कलिजुग धूरताधूरत प्रवर्त्तते।

२२ B) अथ कलियुग प्रवेस वर्षप्रमांण ४ लाष ३२००० हजार कलियुग प्रमाण। अवगतिरूपी धर्मथकी उपजै। ताड १ प्रमाण देहमांन। आयुर्बल १२० वीस वरसरी। त्रीया प्रसूत वार २१। धरम तो दोढ

विस्वो, पाप १८ वा । सत अर्ध विस्वो । एक वार वावै करमा-धरमी निपजै । सर्वजन धूर्त्त, त्रीया-लंपट, चौर-बुधि, मलेछ राजा, पुत्र पितानै न मन्यते, भाईसु हेत नहीं, कूड घणो, साच निरतो, पापी पातिसाही, विप्र वेस्यारक्त, षटदर्सण लोभी, लाषां माहे १ दातार, कोडि माहे १ जोगी । तुरतदांन कुपात्रे । पात्रे तो सेवादानं, कुपात्रे मण दांन, पात्रे कण दांन । जन षटदरसण-लोपी, पाषंडरक्ता, कलियुगरा अनेक चरत्र छै ।

२३ A) अथ कलजुग माहे राठोडवंस राजा । कमोदसेन राजा पुत्र अमरकेत राजा २७१, रो हयवाहन राजा २७२, री विश्वांभर राजा २७३, रो वज्रजंघराजा २७४, रो वैरसीह राजा २७५, रो जसदेव राजा २७६, रो दुरजनसाल राजा २७७, रो भावदेव राजा २७८, रो चाचिगदेव राजा २७९, तिण हुती चाचिगीया राठोड हुआ, तिण रो तुलदेव राजा २८०, रो सांतलदेव राजा २८१, रो महीपाल राजा २८२, रो जसपाल राजा २८३ ।

२३ B) कलियुग माहे राठोडवंसी राजा कुण हुवा तिके कहै छै—मुकंदमणि राजारो अमरकेत राजा ७२, रो सिधार्थ राजा ७३, रो नंदवर्द्धन राजा ७४, रो हयवाहन राजा ७५, रो दधिवाहन राजा ७६, रो जीमुतवाहन राजा ७७, रो विश्रंभ राजा ७८ । तस्य कीर्तिश्लोक—

।। श्लोक ।।

६८. रविप्रभ रविक्रांता भूम्यं नैरव सूसम ।
वज्रसंघ सुतो जस्य अवन्यंस्या नरधिप ।। १

विश्रंभ राजा रो वज्रसंघ राजा ७९, रो जसदेव राजा ८०, रो दुर्ज्जनसाल राजा ८१, रो भावदेव राजा ८२, रो चाचिग राजा ८३ । तिणसुं **चाचगीया राठोड़** कहांणा ।

चाचग राजा रो मूलदेव राजा ८४, रो सातलदेव राजा ८५, रो सांमलदेव राजा ८६, रो रिमपाल राजा ८७, रो जसपाल राजा ८८ ।

जसपाल राजा उपरि वीर विक्रमादित्यरी फौज आई तरै धरती रै वास्तै उजेण गया। धरती पमार विक्रमादीत भोगवै, तिणरो कवित्त–

॥ कवित्त ॥

६६. तीस लष्य सांमंत सुभट इक कोडि धनुर्द्धर,
मंडलीक चोवीस नित सेवै वार निरंतर।
पंच लष्य गजराज सत्तरि लष्य घौटक छजै,
छपन सहस नीसांण नाद धरि अंबर गजै।
उजेण नयर दीसै अधिक पुरसां अधिक पमार हुअ।
पर-दुष-हरण वछल-करण श्रीविक्रम जयवंत तुअ॥ १

इसो विक्रमादीत राजा हुवो, तिणरो संबत चालै छै।

जसपाल राजा रो वीरमदेव राजा ८६, रो प्रागदेव राजा ६०, रो अणहल राजा ६१, रो महीपराव राजा ६२, रो सदत्त राजा ६३, रो मनमथराय राजा ६४, रो प्रहास राजा ६५, रो मदभ्रंम राजा ६६, रो महाभ्रंम राजा ६७, रो धुधमार राजा ६८।

२४) धुधमार राजा महाप्रतापीक हुआ, तिणथी राठोडांरी तेरै साषा हुई।

प्रथम पुत्र अभैराज, तिण अभैपुर वसायो। तिणथी **अभैपुरा** साष **राठोड** कहांणा १।

बीजो पुत्र जैवंत, तिण जैवंतपुर वसायो। तिणथी **जयवंता** साष **राठोड** कहांणा २।

तीजो पुत्र वागुल, तिण बगलांणो सहर वसायो। तिणथी **वागुलीया** साष **राठोड** कहांणा ३।

चोथो पुत्र अहरराय, तिण आहोरगढ वसायो। तिणथी **अहरराव** साष **राठोड** कहांणा ४।

पांचमो पुत्र करह, तिण करहेडो वसायो। तिणथी **करहा** साष **राठोड** कहांणा ५।

छठो पुत्र जलषेड, तिण जलषेडगढ वसायो। तिणथी **जलषेडीया** साष **राठोड** कहांणा ६।

सातमो पुत्र कमधज, तिणथी **कमधजीया** साष **राठोड** कहांणा। कमधज राव तेरै साषारो रात्र कहांणो ७।

आठमो पुत्र चंदेल, तिण चंदी-चंद्रावर सहर वसायो। तिणथी **चंदेला** साष **राठोड** कहांणा ८।

नवमो पुत्र अजबराव, तिण पूरबमैं अजैपुर वसायो। तिणथी **अजबेडीया** साष **राठोड** कहांणा ९।

दसमो पुत्र सूरदेव, तिण सोरोपुर वसायो। तिणथी **सूरा** साष **राठोड** कहांणा १०।

इग्यारमो पुत्र धीर, तिण धीरपुर नगर वसायो। तिणथी **धीरा** साष **राठोड** कहांणा ११।

बारमो पुत्र कपिल, तिण कंपिलपुर वसायो। तिणथी **कपालीया** साष **राठोड** कहांणा १२।

तेरमो पुत्र षेमराज, तिण षैरावाद वसायो। तिणथी **षीरोदा** साष **राठोड** कहीजैं १३।

ए तेरै साष धुधमार राजाथी हुई। सकल राजा हुआ। पंषणी माता कुलदेवता, शुक्राचार्य गुरू हुवा। गोतम गोत्रीया राठोड कहीजै। धुधमार राजा पूरबमें कांप घणारो वसायो।

अथ तेरा साष रोठोडो, तिणरो कवित्त-

॥ कवित्त ॥

७०. अभैपुरा जयवंत सूर वागुला नरेसुर,
अहरराव राठोड क्रीत करहा दांनेसुर।
जलषेडीया कमधज सबल चदेल दहु दल,
वरीया वैर सुगाल उतर गुरु सूरा निरंतर।
धीर गुरु धोर कपालीया षोरोदा जयवंत धर।
धुधमार ध्रंम उचरें तेरैं साष राठोड हर ॥१॥

॥ वार्ता ॥

२५) धुधमार राजारै पाट कमधज राजा हुवौ, जिण फेर पाछी कनवज वसाई। संवत ६०१५ (६१५) छसै नै पनडोतरै छतीस देसनो धणी राजा कमधज हुओ। रांणोरांणा समक्षो श्रीगुरू भावदेवनै हाथी दीनो नै ७ गांव दीया। सांसण भावदेवरा कनवज देस माहे छै। छतीस सिवजीरा प्रसाद कराया। छतीस गढ अनड पहाडां उपरि कराया। छतोस पैडीबंध वावडी कराई। छतीस सिषरबंध ठाकुरद्वारा कराया। छतीस पाजबंध तलाव बंधाया। छतीस हजार गावांरो धणी राजा कमधज हुवो।

कमधज राजारै पाट केतराजा ६८, रो वछराजा ६६, तिको वेणीवछ राज कहांणो। तिण राजा वासिगरी पुत्री परणी।

तिणरो पुत्र सुकलवछ राजा हुवो ३००। सुकलवछरो सदयवछ राजा हुओ। तिणरै सावलिगा राणी हुई। तिणरो पुत्र महीपाल राजा हुवो ३०१। महीपालरो विजैचंद राजा ३०२, रो राजा जैचंद राजा हुवो ३०३।

२६) जैचंद राजा दलां पांगलो कहांणो। तिणरो कटक चालतां आगले दले पांणी, पाछले दले कादो, कादारी जायगां षेह उडै। तिण वासतै दले पांगलो कहांणो। वडो सेनाधिपति राजा हुवो तिणरा कवित्त–

॥ कवित्त ॥

७१. छतीस सहस मंडलीक कोडि इक सुभट वषांणु,
पायक पनरै लष्य तीस लष्य तेजी जांणु।
चवदै सहस गयंद सवा लष्य नीसांण सुणिजै,
गंगा जिमना बेह जास सेना जल छीजै।
कासी देस वांणारसी जैचंद नरपति पांगुलो,
कुमरेस राय प्रीतै करी जीव जनम करिवो भलो॥ १

७२. तीस लष्य तुहषार सुजड पषर सायर दल
पनर लष्य मयमंत दंत गाजंत महाबल।

पंच अरव पायक सफर फारक धनुषधर,
लई सबल बरवीर लष है अंत सुहंवर।
छतीस लाष नरनाय वै तास सेव एता करै,
जीवंत महाबल राजवी कवण ता समवडि करै॥ २[१]

७३. सतर सहस गुजरात बहिन कांचली समपे,
कीयै सांमंत पसाव धरा सगली जस थपे।
वांणुं लष मालवो देवकु पूज चढाए,
सांभर लष सवाय निबल राजान बढाए।
छतीस लाष कनवजापति चंद भणै इम विवह पर,
पूजै न को महीमंडली धर्म कर्म राठोड हर॥ ३[२]

॥ वार्त्ता ॥

२७) संबत ११५१ चैतमास, आठम तिथ, राजा जैचंदरी पुत्री संयोगिता परणी। चहुवांण प्रथवीराजसु लड़ाई हुई। तठै प्रथीराज रा सांमंत काम आया। तठै राजा जैचंदरो सगो भाई वीरमदे महिलां मैं पौढयो थो। तठै वीरारस वाजित्र सांभलिनै जाग्यो। तरै सात षवास उभा सेवा करता था, तिणांनै पूछीयो, 'वीरारस कठै वाजै छै?" तरै षवासां अरज कीधी, 'महाराज! महाराजरी पुत्री संयोगिता प्रथीराज चहुवांण लेनै जाय छै, सो लडाई हुवै छै।' तरै वीरमदेनै रीस आई, 'हरांमषोरां, म्हांनै क्युं न जगाया?' तरै सात षवास मारिया, पटिकनै मार्या। जुध करणनै रीस मांहि चढयो। तिण समीयारो कवित्त—

---

[१] यह पद्य A प्रति में नहीं है।
[२] यह पद्य A प्रति में इस प्रकार है—

७२. सित्तरि सहस गुजरात बहिन कांचल समपी,
सांभर लष सवाइ निबल करि सांसण थपी।
पंचवारो सो पांच दीध सामत पसाए,
वांणुं लप मालवो देवकु पूजि चढाए।
छतीस लक्ष कनवजपति, चंद भणै इह विवह परि,
पूजै न को महिमंडली, धर्म कर्म राठोड हर॥ २

॥ कवित्त ॥

७४. बंधव एक जैचंद नांम वीरम रावत्तह
अतुल तेज बल अतुल पिता विजैपाल सुपुत्तह ।
अप्पवपन वदूण सुकर काया उचपण
सत बकरा इक महिष भषै अंन बहु अतिभषण ।
टोडर रस चरण पलसठिको भार तिनको मंड भणि ।
जुग सहस तिन भोथांण भरि भजै इक इक लष रिण ॥ १

॥ वार्त्ता ॥

वीरमदे प्रथीराजनै जाय पुहतो तठै रिण संग्रांम हुवो । प्रथीराज रा सोरंभरै घाट सात सांमंत काम आया । धरमडाव प्रथीराज लेनै छूटो । तरै बीरमदे पाछो वल्यो । पछै कितरेक दिने राजा जैचंद गोरी पातिसाहसु लडिनै कांम आयौ । तिण समीयारा कवित्त

॥ कवित्त ॥

७५. कहन इंद कह चंद कहन ब्रह्मा सावत्री
गणि गंधर्व अपछरा वात कहि नारद निरती ।
कहन मेर महमहण मनुष मनुषैको मिलीयो
कह उडीयो आकास जलण को तेजे जलीयो ।
संग्राम मिल्या सुर नर सवै अनल पंष दीठो अरुण ।
जैचंद राय किण परि मूओ कहै निसंक सचो धरणि ॥ १

७६. हैपति हैवर मिल्या, मिल्या हैवर गुढि गैवर
साहिबदी सुरतांण भिडे भांजै जास नांतर ।
कटक्क कितक कमधज कटक केतो जुध राजा
भासै ईस संग्रह्या तूल गयो तन तिल ताजा ।
पतिसाह सरस नल पंषीयै इसो न को माझी मरण,
उपाडि अंग अपछर गई पडत न लाधो राव रिण ॥ २

७७. सीस पचडो रिण भवन अंग गिरझण उचायो,
गिरझण अपछर लैण राव चाहत न पायो ।

गिरभ्रण कर विछुटयो पड्यो गंगाजल भीतर,
गंग लीयो उछंग लील लोलै सिवसंकर।
गंगास पास सो त्रीयनयण हरि उछाहै अपंको,
गलि रुंडमाल ल सठ्यो सीस ईस जीचदको ॥ ३

॥ वार्त्ता ॥

२८) जैंचंद राजा पुत्र जसचंद राजा ४, रो सिवचंद राजा ५, रो चंद्रपाल राजा ६, रो लघु सहस्रार्जुन राजा ७, रो सितभ्रम राजा ८, रो परिहंस राजा ९, रो मांमट राजा १०, रो देवराय राजा ११, रो दुलहराय राजा १२, रो वलपसाव राजा १३, रो सलूणराय राजा १४, रो जोगडराय राजा १५, रो सेतरांम राजा १६, सेतरांमजीरा सीहोजी।

२९ A) १३ साष राठोड़ांरी तिणांरै पंषणी माता कुलदेवता छै। सीहोजो मारवाडिमें आया तिणरो अधिकार कहै छै। अथ कीर्त्ति कवित्त—

॥ कवित्त ॥

७८.　आदि भूप रूप अनूप जगत सहु जागतै मंडै,
प्रथवी कीध प्रगट दुषमये दालद षडै।
रुघवसी गोपाल गढ महोर पहली,
विक्रमसन कनोज वंस वधीयो जय वली।
पषणी 'देव गुरू'शुक्र,जसमारिध सापा मंडणो,
७९.　कमधज कोडि केकांण दियडो वीर षल षंडणो ॥१॥

॥ दूहो सोरठो ॥

वंस पैंतीसैं वाच, दीधी देवे दाणवे।
सो जांणों ज्यो साच, कीरति राठोडां कही ॥१॥
८०.　करण मरंतै हम कह्यो आगलि सुर असुरांह।
तुरके वांण भलावीया कीरति राठोडांह ॥२॥
८१.　राठोडांरी कुलत्रीया, लीला प्रभ न घरंत।
ज्यांरा प्रिउ न भंजणा से भजणा न जणंत ॥३॥